प्रकाशक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण अक्टूबर १६४६
द्वितीय संस्करण अप्रैल १६५१

मुद्रक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन मुद्रणालय
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद

जिनका जीवन अभय, विश्वास और निर्द्वन्द्व का
आदर्श था और जिनकी प्रेरणा और अनुकम्पा
से मुझे 'तुलसी' का परिचय मिला है
उन पितृदेव पण्डित शिवपालरामजी की
पुण्य स्मृति में

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

जब मैं पाँच-छः वर्ष का बालक था तब की एक स्मृति अब तक स्पष्ट बनी है। राजापुर में अपने पूज्य पिताजी के साथ गोस्वामी तुलसीदासजी के मन्दिर में दर्शनार्थ जाया करता था। उन दिनों के मिट्टी के बने, खपरैल वाले कच्चे मन्दिर की झलक अब भी आँखों के सामने नाचती है। फिर चौथी कक्षा की परीक्षा में बैठने के उपरान्त दस वर्ष के वय में वहीं गोस्वामीजी के पुण्य करों के स्थापित सङ्कट-मोचन को पहले पहल सम्पूर्ण *मानस* का नवाह्निक पाठ सुनाना भी नहीं भूल पाता। आगे चलकर तो *मानस* मेरी जीवन-यात्रा का एक-मात्र सम्बल हुआ, जिसके सहारे मैं अब तक आँधी-पानी के बीच चलता आ रहा हूँ। *मानस* के इस अविच्छिन्न सम्बन्ध से मैं गोस्वामीजी के निकट पहुँचकर अपने को कृतार्थ मानता हूँ और उनके *मानस* के अध्ययन में तो निरन्तर तथा अन्य ग्रन्थों के अध्ययन में यथावकाश लगा रहता हूँ। न जाने कितनी बार यह विचार आया कि उनकी धवल कीर्ति-गाथा अपनी श्याममुखी लेखनी से लिखकर उसको कृतकृत्य करूँ, किन्तु 'गृहकारज नाना जंजाला' इस मनोरथ की सिद्धि में सचमुच 'दुर्गम सैल बिसाला' सिद्ध हुए। जब राम-कृपा से इसकी पूर्त्ति का अवसर आया तब दूसरे व्यवधान तो होते ही रहे, बीच में रुग्णतावश शरीर भी असमर्थ हो गया। फिर भी किसी प्रकार जिस रूप में यह काम सम्पन्न हो सका है उससे मन को तृप्ति न होते हुए भी कुछ सन्तोष अवश्य हो रहा है। कारण, अपने परिचितों में दीर्घसूत्री कहे जाने वाले इस अकिञ्चन से जैसे-तैसे कुछ तो हो गया। सम्भव है इसी क्षेत्र में आगे भी कुछ हो जाय।

यह मेरी गोस्वामीजी के विषय में कुछ लिखने की योजना का सङ्क्षिप्त रूप है। इसमें उनके विविध महत्त्वपूर्ण कार्यों की कुछ रूपरेखा मात्र मिलेगी। यह उनके सिद्धान्त, आदर्श, विचार, कवित्व और महत्त्व के दिग्दर्शन का प्रयत्न है। उनके विषय में उपलब्ध रचनाओं के अध्ययन से जो संस्कार मन में रह गये हैं उनका उपयोग तो मैंने किया ही है, अपने चिन्तन का कुछ परिणाम भी व्यक्त करने की चेष्टा की है। कह नहीं सकता कि मैं अपनी अभिव्यक्ति में सफल हो सका हूँ कि नहीं। फिर भी आशा करता हूँ कि इससे गोस्वामी तुलसीदास के काव्यों के अध्ययन की प्रेरणा मिलेगी।

दारागंज, प्रयागराज
कार्त्तिक बदि ६, २००६

रामबहोरी शुक्ल

निवेदन

(दूसरा संस्करण)

तुलसी लिखकर मैं अभिलषित सन्तोष-लाभ नहीं कर सका। कारण, रुग्णावस्था ने इसको अभीष्ट रूप दे सकने से मुझे वञ्चित कर दिया था। अस्वस्थता के कारण इसकी पाण्डुलिपि का यथेष्ट संशोधन भी नहीं किया जा सका था और पुस्तक मुद्रित हो गयी। फलतः इसमें परिष्कार की आवश्यकता थी। अब इससे भाषा, मुद्रण एवं निष्कर्ष सम्बन्धी दोष दूर करने की यथासाध्य चेष्टा हुई है। कुछ नये प्रकरण भी बढ़ाये गये हैं। कई कारणों से इसके वर्तमान आकार में वृद्धि करना सम्भव न था।

तुलसी-साहित्य के जिन वन्दनीय आचार्यों की रचनाओं को पढ़कर मैं गोस्वामीजी के विषय में थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर सका हूँ उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उनकी एवं उनकी महत्त्व-पूर्ण कृतियों की तालिका इस पुस्तक के वास्तविक रूप में छपने पर उसके साथ दी जायगी। मैं मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता हूँ कि यदि इसमें कहीं काम की बात मिल जाय तो उसे उक्त महानुभावों का प्रसाद समझा जाय, और जहाँ कहीं कोई त्रुटि मिले उसे मेरे अज्ञान तथा प्रमाद का फल मानकर मुझे क्षमा करके उसके सुधारने का अवसर दिया जाय। जिनकी सहायता से मैं इसको भविष्यत् में परिमार्जित करने में समर्थ होऊँगा उनकी कृपा की याचना करता हूँ।

पञ्जाब, आगरा, सागर एवं (सम्मेलन के) हिन्दी विश्व-विद्यालय ने अपनी विविध परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम में तुलसी को स्थान देकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया है। इस प्रकार

तुलसी के सत्पात्रों के हाथ में इसे पहुँचने का भी अवसर मिल रहा है। आशा है तुलसी से उन लोगों के मन में महात्मा तुलसीदास के प्रति उचित श्रद्धा उत्पन्न होकर ही न रह जायगी, अपितु उनके काव्यों के स्वतः अध्ययन और उनका मनन करने की इच्छा भी उत्पन्न होगी। इतना ही नहीं, वे उनके कवित्व का रस लेकर तृप्त तो होंगे ही, साथ ही उनके विचारों एवं आदर्शों को अपना कर आत्मकल्याण तथा लोक-हित की साधना में भी सफल होंगे।

फाल्गुन बदि ६, २००७ वै. रामबहोरी शुक्ल

जीवन-चरित

भारतवर्ष में विदेशी मुसलमानों का प्रभुत्व जम चुका था। समूचे देश पर उनकी शासन-पताका फहराती थी। उस पताका के नीचे देश के सभी क्षेत्रों के हिन्दू राजाओं ने घुटने टेक दिये थे। बीच-बीच में जहाँ-तहाँ कुछ स्वाभिमानी वीर सिर उठाते अवश्य, परन्तु अलग-अलग, एक साथ मिलकर नहीं। इससे वे कर-धर तो कुछ न पाते, उलटे मुँह की खाते और कुछ दिनों के लिए अपने-जैसे दूसरे स्वतन्त्रचेताओं के लिए भी ऐसे ही प्रयत्नों का मार्ग रोक जाते। मुसलमान भारत पर अपना राज्य स्थापित करके ही चुप नहीं बैठे। उन्होंने इस्लाम का सिक्का जमाना भी अपना मुख्य उद्देश्य बनाया। इस देश के निवासियों को इस्लाम धर्म का अनुयायी बनाना उनका लक्ष्य हुआ। यह काम उन्होंने दो प्रकार से किया। राज-शक्ति उनके हाथ में थी ही। उसके द्वारा उन्होंने यहाँ के लोगों को इस्लाम का अनुगत बनने के लिए बाध्य किया। जिसने ऐसा न किया उसे तुरन्त तलवार के घाट उतार दिया। इस प्रकार आतङ्क जमाकर उन्होंने प्राणों के मोह में फँसे कायरों को अपने पूर्वजों का धर्म छोड़ने के लिए विवश किया। वे उनकी बढ़ती हुई शक्ति के सहायक बने और अपने ही रक्त-मांस के बने पहले के सहधर्मियों के विरोधी हो गये। इस्लामी शरीयत के इस रूप ने भारतीय धर्म-परम्परा में प्रचलित मूर्ति-पूजा पर भी प्रहार किया। फलतः पवित्र तीर्थों में स्थापित भगवद्-विग्रह तोड़े गये। मन्दिरों को मस्जिद बना दिया गया। ऐसा करके अधकचरे विश्वास वालों के लिए उपासना की यह पद्धति असार प्रदर्शित की गयी। इस प्रकार गाजी बनने के लिए उत्सुक अनेक मुसलमान शासकों और उनके सेनापतियों ने सारे देश को अशान्ति की

आविर्भाव काल की स्थिति

क्रीडास्थली बना दिया। यों इस्लाम की तलवार खुलकर नाच और भारत में इस्लाम की जड़ जमा रही थी। मूर्ति-भञ्जकों के पशुबल से उत्पीडित जनता के बीच हिन्दुओं का क्षात्रतेज भी प्रकट हुआ। राजपूताने के वीरों ने तो उन आततायियों से लोहा लिया ही, पञ्जाब के सिक्खों, महाराष्ट्र के जागीरदारों, दक्षिण के तेलुगु और कन्नड़ नायकों, मध्यभारत के गोंड सरदारों और बङ्गाल के भू-स्वामियों ने भी उनका सामना किया। उनकी बाढ़ रोकी। इससे साधारण जनता को बल मिला। इस्लाम उसे पूर्णरूप से अपने झण्डे के नीचे न ला सका। परन्तु वह सूफी फकीरों का मर्म न समझ सकी। उनके भुलावे में फँस गयी। भोली-भाली जनता मुसलमानी अत्याचार से त्रस्त थी ही। उसे उन सूफी दरवेशों के प्रेम-भरे उपदेश और गान बहुत अच्छे जान पड़ने लगे जिनकी 'प्रेम की पीर' को अभिव्यक्त करने वाली कहानियाँ सामान्य जनता के अन्तस्तल को स्पन्दित कर देती थीं। हिन्दुओं के जीवन की इन प्रेम-गाथाओं में इस्लामी सिद्धान्त और विश्वास इस प्रकार निहित रहते थे कि उन्हें कोई जानकार ही ताड़ सकता था, साधारण जन तो उन्हें अपना समझकर अपना लेने में तनिक भी सोच-विचार नहीं करते थे। अतएव कहा जा सकता है कि उन्होंने वह काम किया जो इस्लाम के आक्रमणकारी रूप से पूर्णतया नहीं सध सका था। इन सूफियों में हमारे वेदान्त की झलक दिखलायी पड़ती थी। इनमें कुछ उच्चकोटि के साधक और सचमुच उदार तथा धार्मिक कट्टरता से मुक्त साधु होते थे। उनके आचरण और उपदेश लोगों का मन अपनी ओर बरबस खींचते थे। उनका प्रभाव भी अच्छा पड़ता था। लोग उनकी बातों में धार्मिक द्वेष की गन्ध नहीं पाते थे। इससे उनकी बातें ध्यान से सुनते और उनकी रचनाओं को प्रेम से पढ़ते थे। फिर भी उनमें इस्लामी सिद्धान्त भरे होते, परन्तु वे ऐसे ढङ्ग से छिपे रहते कि ऊपर से दिखलायी न पड़ते और धीरे-धीरे लोगों के विचारों पर घर करते जा

रहे थे। इन्हीं प्रच्छन्न फकीरों में कुछ ऐसे लोग भी थे जिनका एकमात्र उद्देश्य था इस्लाम का प्रचार। वे अपने आडम्बरपूर्ण आचरण से मोहित कर लोगों को अपने वश में करते, उनकी अन्धभक्ति को बढ़ाते और उनको इस्लाम के विचारों से रँग देते। वे समझते तो रहते कि हम हिन्दू हैं, परन्तु पूजते वास्तव में कब्रों को, चलते इन साँइयों और दरवेशों के विचारों के अनुसार। उच्च वर्गों में इनकी दाल न गली, किन्तु तथाकथित निम्न श्रेणी के लोगों पर इनका जादू चल गया। वे नाममात्र के हिन्दू रह गये। इस प्रकार इस्लाम प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अपना रङ्ग लाने लगा।

उधर अपनी राजशक्ति के न रहने और देश में विदेशी-सत्ता के प्रबल होने से हिन्दुओं में संस्कृत की शिक्षा का प्रसार कम हुआ। लुक-छिपकर कुछ लोग मन्दिरों में शास्त्र-चर्चा करते रहे, पर सामान्य जनता उससे दूर हटती गयी। जिन ब्राह्मणों के पूर्वजों ने ज्ञानार्जन और विद्यादान को अपने लिए एकमात्र कार्य स्थिर किया था वे अब निरक्षर होने लगे। उनके आचरण-भ्रष्ट होने से उनकी ओर लोगों की श्रद्धा भी धीरे धीरे कम हो चली। धर्म-ध्वजों के पतन के कारण दूसरों को सिर उठाने का अवसर मिला। कुछ आचारनिष्ठ, त्यागी और विद्याव्यसनी द्विज अवश्य पाये जाते, किन्तु उनका प्रभाव कम हो चला था। क्षत्रियों के हाथ से राजशक्ति छिन चुकी थी। कुछ नाममात्र के राजा रह गये थे। उन्होंने मुसलमानों की अधीनता ही नहीं, उनके प्रभाव को अपने घरों में घुस आने दिया था। उन्होंने उनसे सामाजिक सम्बन्ध तक स्थापित कर लिया था। वैश्यों की मर्यादा भी भङ्ग हो गयी थी। शूद्रों ने भी इस सामाजिक विशृङ्खलता से लाभ उठाया। वे मनमाने व्यवसाय और काम करने लगे। इन सभी वर्णों में बहुतों ने इस्लाम भी स्वीकार किया—भय और प्रलोभन दोनों के कारण। परन्तु जो लोग ऊपर से तत्कालीन विदेशी विजेताओं के धर्म को मानने के लिए विवश

हुए थे उनके घर और मन से उनके परम्परागत आचार, विचार और विश्वास पूर्ण रूप से निकल नहीं सके थे। धर्म-परिवर्तन करने पर उन्हें अपना ही अङ्ग मानने वालों की भी कमी न थी। समाज के निम्न समझे जानेवाले वर्गों के प्रति उच्चवर्गवालों की तिरस्कार-भावना उन्हें उससे विमुख करने में सहायक हो रही थी। धर्म-भ्रष्ट और दलित-अस्पृश्य—इन दोनों वर्गों के प्रति उदारता और सहानुभूति प्रदर्शन करने की आवश्यकता समझ कुछ धर्माचार्य प्राचीन रूढ़ियों का बन्धन काट चुके थे। दक्षिण में रामानुजाचार्य ने चाण्डालों को अङ्गीकार कर लिया था। पूर्व में महाप्रभु चैतन्यदेव मुसलमानों को वैष्णव बना चुके थे। उत्तर में आचार्य रामानन्द स्वामी मुसलमान, अन्त्यज आदि सब को राम-मन्त्र की दीक्षा दे गये थे। इन उदारचेता महानुभावों के व्यवहार ने समाज के नियमों की कठोरता रोकी, उन्हें कुछ ढीला किया। इससे समाज का निम्न समझा जाने वाला स्तर अपने धर्म के प्रति विरक्त होने से बच गया। परन्तु परम्परागत कुछ प्राचीन विचारों और आचारों को धक्का अवश्य लगा। सदाचारनिष्ठ तथा कथनी और करनी में एक-से साधु-पुरुषों की बात जाने दीजिये। एक तो ऐसे लोगों की संख्या अधिक न थी, दूसरे इनकी शिक्षा और इनके आचरण का अनुसरण करना सब के लिए सहज भी न था। परन्तु इन लोगों की देखादेखी बहुतेरे धूर्तों और पाखण्डियों की बन आयी। वे साधु-वेश की आड़ में मनमाने ढङ्ग के आचरण करके लोगों के मन में पुरातन रहन-सहन, खान-पान, आचार-व्यवहार आदि के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करते और ऐसे काम करते जिनसे श्रुति-सम्मत धर्म और विश्वास की जड़ पर कुठाराघात होता। इससे सामाजिक व्यवस्था में उथल-पुथल मच गयी। सामान्य जन अपने पूर्वजों के चलाये हुए धर्म के प्रति अविश्वास करने लगे। वे आध्यात्मिक तत्त्वों को सम्यक् रीति से समझे बिना ही उक्त वर्ग के धर्म-निरूपकों के द्वारा जो कुछ कहा जाता उसे

ही ठीक समझते और शास्त्रों के प्रवर्तित विचारों का तिरस्कार करते। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि समाज के विचार और आचार की स्थिति डाँवाडोल हो उठी।

इस प्रकार एक ओर विदेशी राजशक्ति की प्रबलता ने भारतीय जन-समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया था, उसके झण्डे के पीछे-पीछे चलनेवाले उसके धर्म ने देश को आक्रान्त कर रखा था, उसके धर्म के प्रच्छन्न आक्रमण ने मानव-प्रेम की मनोमोहक झाँकी दिखलाकर लोगों को मोहित करने का इन्द्रजाल बिछाया था और दूसरी ओर धर्म की इस नयी व्याख्या और साधारण लोगों को लुभानेवाले उसके इस रूप ने चिरकाल से प्रतिष्ठित आदर्शों, विश्वासों और सिद्धान्तों पर प्रहार किया। इन चेष्टाओं का परिणाम समाज के लिए बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। धार्मिक विश्वास और आचरण विषयक उक्त कार्यों से समाज की एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। इस विषम स्थिति में भी कुछ ब्राह्मणों ने त्याग और तप को अपना रखा था। उन्होंने लौकिक सुखों से सदा के लिए मुँह मोड़ लिया था। वे वेदों और शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में कालयापन करते और अपने पूर्व-पुरुषों के सञ्चित ज्ञान की रक्षा करते। वे धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, यज्ञ-जप, श्राद्ध-तर्पण, कथा-वार्त्ता आदि के द्वारा उस संस्कृति की धारा में जीवन दिया करते। वे देश के सभी क्षेत्रों में स्थापित तीर्थों की यात्रा के लिए नियत समय पर निरन्तर होने वाले समारोहों के द्वारा देश की एकता की रक्षा में तत्पर रहते थे। इस प्रकार जो लोग देश की विद्या, संस्कृति और एकता के मूल में युग-युग से जीवन देकर उसे हराभरा रखते थे, उन पर कुछ अहम्मन्य स्वतन्त्र-विचारक समझे जानेवाले आक्षेप करते, उनकी हँसी उड़ाते और उनकी अवहेलना करते। फलतः समाज की नींव खोखली होती जा रही थी। समाज उस नाव के समान हो रहा था जो किसी बढ़े हुए नद के बीच में पड़ गया हो, जिस पर चारों ओर से भयङ्कर आँधी के कारण उठने

वाली उत्ताल तरङ्गों के थपेड़े लग रहे हों और ऊपर से बड़ी-बड़ी बूँदों की झड़ी लगी हो।

ऐसी ही अशान्ति पूर्ण परिस्थिति में तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। परन्तु किस दिन, किस घड़ी—यह निर्विवाद रूप से कहना कठिन है।

शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रन्थ *शिवसिंह सरोज* में तुलसी का जन्म-संवत् १५८३ लिखा है और रामायण के प्रसिद्ध मर्मज्ञ पण्डित

जन्म-काल

रामगुलाम द्विवेदी ने संवत् १५८९। इन दोनों विद्वानों ने इन संवतों के विषय में कोई प्रमाण नहीं दिया। केवल जनश्रुति के आधार पर कहा होगा। हाथरस के सन्त तुलसी साहिब (संवत् १८२०–१९००) ने स्व-रचित *घट रामायण* में अपने को गोस्वामीजी का अवतार माना है। उसमें वे लिखते हैं कि मेरा पूर्वजन्म भाद्रपद शुक्ला ११ संवत् १५८९ में हुआ था। यह तिथि गणना से ठीक उतरती है और रामगुलाम द्विवेदी के कहे हुए संवत् की पुष्टि करती है। इधर कुछ वर्ष पूर्व वेणीमाधवदास-कृत *गोसाईं-चरित* का संक्षिप्त रूप *मूल गोसाईं चरित* मिला है। ये वेणीमाधवदास गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य कहे जाते हैं। कहते हैं ये गोस्वामीजी के साथ बहुत दिनों तक रहे भी थे। *मूल गोसाईं चरित* में उल्लिखित बातें परम्परा से प्रचलित जनश्रुतियों से मेल खाती हैं। उसमें दी हुई तिथियों में कुछ तो गणना से ठीक उतरती हैं, और कुछ ठीक नहीं उतरतीं। उसमें कुछ बातें ऐसी भी हैं जिनसे उसकी प्राचीनता और प्रामाणिकता के विषय में कुछ गण्यमान्य विद्वानों का विश्वास नहीं। इस *चरित* में लिखा है कि गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५५४ में श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुआ था। यह तिथि गणना से ठीक उतरती है। *रामचरित-मानस* की *मानस-मयङ्क* टीका के रचयिता वन्दन पाठक ने भी संवत् १५५४ को ही गोस्वामीजी का जन्म-काल माना था। आजकल यही गोस्वामीजी का जन्म-काल प्रायः सर्वमान्य है।

गोस्वामीजी की माता का नाम 'हुलसी' प्रसिद्ध है। इसके प्रमाण में उनके समकालीन और स्नेही खानखाना अब्दुर्रहीम का यह दोहा उपस्थित किया जाता है—

माता-पिता

सुरतिय नरतिय नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥

रामचरित-मानस में वैसे तो कई स्थलों में 'हुलसी' का प्रयोग हुआ है, किन्तु एक स्थल में इस शब्द से गोस्वामीजी की जननी के नाम का ही सङ्केत ग्रहण करना समीचीन प्रतीत होता है। कवि *मानस* के प्रथम सोपान में राम-कथा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

रामहि प्रिय पावन तुलसी सी, तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।

यहाँ हुलसी का तात्पर्य 'उत्साहित की', 'उमगाई' अथवा 'उमड़ी' लिया जाय तो अर्थ की सङ्गति नहीं बैठेगी। अतएव जान पड़ता है कि इसमें उन्होंने अपनी माता के नाम का ही इङ्गित किया है।

तुलसीदास के पिता का नाम कोई परशुराम मिश्र कहते हैं और कोई-कोई आत्माराम दुबे। *मानस* की *सन्त मन उन्मनी* टीका के रचयिता श्रीगुरुसहायलाल ने *वृहद्रामायण महात्म्य* के आधार पर अम्बादत्त नाम लिखा है। *भविष्यपुराण* के रचयिता के कथनानुसार *अनप* को इन ऋषि-कल्प महानुभाव को अपना पुत्र कहने का सौभाग्य मिला था।

कुछ लोग गोस्वामीजी के गृहस्थाश्रम की सङ्गिनी का नाम रत्नावली कहते हैं। उपर्युक्त *सन्त मन उन्मनी* टीका में उनका नाम ममता लिखा है।

पत्नी

परम्परा से नरहरिदास गोस्वामी तुलसीदास के गुरु माने जाते हैं। मानस के प्रारम्भ में वन्दनात्मक एक सोरठा का पूर्वार्द्ध है—'वन्दउँ गुरु पद कञ्ज कृपासिन्धु नर रूप हरि'। इसमें प्रयुक्त 'नररूप हरि' के सहारे 'नरहरि' पद से नरहरिदास नाम की पुष्टि की जाती है। *भविष्यपुराण* में उनके गुरु का नाम राघवानन्द दिया है।

गुरु

तुलसीदासजी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे इसमें किसी को सन्देह नहीं। कुछ लोग उन्हें कान्यकुब्ज, कुछ सनाढ्य, कुछ सारस्वत परन्तु अधिकांश विद्वान् उन्हें सरयूपारीण मानते हैं।

वर्ण

तुलसी चरित में वे सरयूपारीण गाना के मिश्र बतलाये गये हैं, परन्तु मूल गोसाईं चरित में पाराशर गोत्री पत्यौजा के दुबे कहे गये हैं। काष्ठजिह्वा स्वामी देव ने भी लिखा है—'तुलसी परासर गोत दुबे पत्यौजा के।'

गोस्वामीजी कहाँ प्रकट हुए थे यह भी सर्व-सम्मत रूप में नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग चित्रकूट के पास हाजीपुर को उनका जन्म-स्थान मानते हैं। फ्रांसीसी विद्वान् तासी और अङ्गरेज

जन्म-स्थान

लेखक विल्सन ने इस मत का प्रवर्तन किया है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है ऐसा कोई स्थान आजकल तो है नहीं। सम्भव है उन्होंने राजापुर को भ्रमवश हाजीपुर लिख दिया हो। कारण, राजापुर भी चित्रकूट से कोई दस कोस पर ही है। महात्मा रूपकलाजी तथा लाला सीताराम ने तारी में उनका जन्म लेना लिखा है। कहीं कहीं हस्तिनापुर को तुलसी का जन्म-स्थान बतलाया गया है। एटा जिले का सोरों भी उनका जन्म-स्थान कहलाता है। इसके प्रमाण में कुछ पुरानी जनश्रुतियाँ तो हैं ही, मानस के प्रथम सोपान का यह दोहार्द्ध भी रखा जाता है—मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत; परन्तु सूकरखेत से भाषा-विज्ञान के अनुसार 'सोरों' की निरुक्ति नहीं होती और इसके पक्ष में कुछ दिन हुए धीरे-धीरे नियमित रूप से प्रकाश में आने वाली जो रचनाएँ वहाँ से प्रकट हुई हैं उनकी प्रामाणिकता नितान्त सन्दिग्ध और अमान्य समझी जाती है। बाँदा प्रान्त के राजापुर गाँव को ही अधिक विद्वान् प्राचीनपरम्परा और अन्य प्रमाणों के आधार पर तुलसीदासजी की जन्मपुरी मानते हैं।

उपर्युक्त बातों से इतना स्पष्ट है कि तुलसीदास के जन्म के

समय, स्थान एवं कुल आदि के विषय में सर्वमान्य बातें नहीं कही जा सकतीं। इस देश में प्राचीन काल से इनको विशेष महत्त्व भी नहीं दिया जाता था। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे मुगल बादशाह अकबर के समसामयिक थे। इतना तो स्पष्ट है कि वे अब उत्तर-प्रदेश कहलानेवाले भरतखण्ड में उत्पन्न हुए थे। वे *विनय पत्रिका* में कहते हैं—

बाल्य-काल

यह भरतखण्ड समीप सुरसरि थल भलो सङ्गति भली।

और *कवितावली* में उन्होंने लिखा है—

भलि भारतभूमि भले कुलजन्म समाज सरीर भलो लहि कै।

इससे यह निश्चय है कि वे कुलीन थे। श्रेष्ठ समाज में उत्पन्न हुए थे। फलतः ब्राह्मण थे। भारत में गङ्गा-तट पर निवास करते थे। जिस ग्रन्थ से उक्त अवतरण लिया गया है उसका सम्बन्ध काशी से निश्चित है। इससे 'समीप सुरसरि' से काशी का ही तात्पर्य है, जहाँ वे अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में बहुत काल तक रहे थे। इन निश्चित बातों के अतिरिक्त अन्य के निर्णय के फेर में यहाँ न पड़कर अब हम उनकी जीवन-चर्चा की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख करेंगे। इनके आधार कवि के ग्रन्थों में आये हुए कुछ उल्लेख, और तत्कालीन तथा परवर्ती अन्य कवियों और ग्रन्थकारों के एवं परम्परागत जनश्रुतियों के माननीय साक्ष्य होंगे।

कहा जाता है कि गोस्वामीजी का जन्म अभुक्त मूल नक्षत्र में हुआ था। इससे उनका मुँह देखने पर अपनी मृत्यु हो जाने के भय से पिता ने जन्म लेते ही उन्हें त्याग दिया। कवि ने *कवितावली* में कहा है—

नायो कुल मङ्गल बधायो न बजायो सुनि,

भयो परिताप पाप जननी जनक को।

इसी ग्रन्थ में अन्यत्र उन्होंने बतलाया है—

मातु पिता जग जाइ तज्यो, विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई।

कुछ ऐसा ही उन्होंने *विनयपत्रिका* में भी कहा है—

जननि जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधि हू सृज्यो अवडेरे।

और

तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिता हू।

इन उक्तियों से कुछ लोग अभुक्त मूल में जन्म लेने और तुरन्त ही त्याग दिये जाने की उक्त लोक-प्रसिद्धि का समर्थन समझते हैं, परन्तु उद्धृत अवतरणों का अर्थ अभिधा के सहारे टटोलना युक्तियुक्त नहीं जँचता। जिस प्रसङ्ग में कहे गये उद्‌गारों से ये अंश लिये गये हैं उस पर ध्यान रखने से यह विदित होता है कि गोस्वामीजी यहाँ सांसारिक सम्बन्धियों में सर्व-श्रेष्ठ माता-पिता के द्वारा भी अन्त में त्यागे जाने और विधाता द्वारा भाग्यहीन बनाये जाने पर भी राम के अनुग्रह से लोक-पूज्य होने की चर्चा करते और राम की महिमा का गान करते हैं। इसी प्रकार *कवितावली* में कथित—

बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।

को प्रसङ्ग से हटाकर इस बात के प्रमाण के रूप में रखा जाता है कि माता-पिता से परित्यक्त बालक *राम बोला* सच्ची आत्मकहानी लिख गया है और वह इतना दरिद्र था कि मुट्ठी भर भी नहीं, चार—थोड़े से—चने पा जाने पर ही उन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसा समझ लेता था। वस्तुतः इसमें लोक में आश्रयदाता के अभाव की ओर सङ्केत है। इसके आगे कवि ने वहीं जो दृढ विश्वास व्यक्त किया है उससे उनकी स्थिति पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं—

तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच बिधि हू गनक को।

देखिये, जिस तुलसी के भाग्य में विधाता ने कोई अच्छी बात नहीं लिखी थी—'बिधिहू न लिखी कछु भाल भलाई'—उसी तुलसी को

राम की कृपा ने ऐसा बना दिया कि उसके सौभाग्य को सुनकर विधाता को ईर्ष्या होती है और गणक (ज्योतिषी) सोच में पड़ जाते हैं कि कुण्डली देखने पर यह महा अभागा प्रकट होता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। क्यों ?

इन उल्लेखों से इतना ही समझना चाहिये कि तुलसीदास बाल्यकाल में ही घर से निकल पड़े थे। उन्हें साधुओं का सत्सङ्ग मिल गया। गुरु ने कृपा करके सूकर खेत में राम-कथा सुनायी—'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।' एक तो वह राम-कथा बहुत गूढ़ थी, फिर मन पर कलि का प्रभाव था। वे अज्ञान थे। उनका बाल्यकाल था—'समुझी नहिं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।' पर गुरु ने उन्हें बार-बार सुनाया—'तदपि कही गुर बारहिं बारा।' इससे यह सूचित होता है कि गोस्वामीजी ने बाल्यावस्था में ही राम की भक्ति का मर्म गुरु से जान लिया था। वे निरन्तर राम-चर्चा में मग्न रहते। उनके मन में राम-रस चढ़ गया। वे राम-मय हो गये। साधना करते-करते वे सारे संसार को राम-मय जानने लगे—'सीय-राम-मय सब जग जानी।' इस प्रकार गुरु के द्वारा विविध शास्त्रों, पुराणों, रामायणों, काव्यों, नाटकों आदि में वर्णित राम-चरित की चर्चा से राम-तत्त्व जानते हुए तुलसी-दासजी उन्हीं के साथ रहने लगे। *मूल गोसाईं चरित* की साखी है कि वे अपने गुरु के साथ काशी के पञ्चगङ्गा घाट में स्वामी रामानन्द के स्थान पर रहने लगे थे। वहीं शेष सनातन रहते थे। वे वेद-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। तुलसीदासजी ने उनसे वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र, इतिहास, पुराण, काव्य-कला का बड़े मनोयोग से अध्ययन किया। पन्द्रह वर्ष तक यह अध्ययन-क्रम चला। तुलसी राम-भक्त हो ही चुके थे। विद्या पढ़कर पारङ्गत पण्डित भी हो गये।

अपने दीक्षा-गुरु के पास रहते हुए भी वे उनके समान वैरागी नहीं हुए थे। कारण, वैरागी हो जाने पर फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने

की बात ही न उठती। ऐसा करते तो वे भ्रष्ट साधु होते और फिर गृह-त्याग के अनन्तर उनके आचरण की यह अस्थिरता उनके महान् व्यक्तित्व पर अमिट कलङ्क बनकर जम गयी होती। परन्तु गोस्वामीजी ने वैवाहिक जीवन भी कुछ दिनों तक व्यतीत किया—इसमें भी तो सन्देह नहीं। *कवितावली* में वे कह गये हैं—

बालेपन सूधे मन राम सनमुख गयो
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
परयो लोक रीति में पुनीति प्रीति राम राय
मोह बस बैठो तोरि तरक तराक हौं।

इससे इतना तो प्रकट है ही कि बाल्यकाल में राम की शरण ग्रहण करने के अनन्तर वे फिर लोक-रीति में पड़े थे। उसमें फँसकर वे अपने जीवन के ध्येय—राम-भजन से विमुख हो गये होंगे। प्रवाद तो यह है कि वे अपनी पत्नी में आसक्त थे। इसमें अधिक सन्देह भी नहीं जान पड़ता। कारण, यदि उन्होंने उसके प्रेम की अनुभूति न की होती तो आगे चलकर वे उससे हटकर राम-प्रेम में इतना अधिक डूबे न होते। अस्तु; पत्नी का यह प्रेम-सम्बन्ध बहुत दिन तक न चला। एक दिन वह अपने मायके गयी। तुलसीदास उसका वियोग न सह सके। उसके पीछे-पीछे ससुराल जा पहुँचे। वहाँ उन्हें अपने पीछे ही आया देख वह लज्जित हुई। उसके मुँह से अकस्मात् निकल पड़ा—

लाज न लागत आपको, दौरे आयेहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ।
अस्थि चर्म-मय देह मय, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम महँ, होति न तो भवभीति॥

पत्नी ने यह फटकार चाहे किसी विशेष विचार से न सुनायी हो, किन्तु तुलसीदासजी को बात लग गयी। वे इस कशाघात से उलटे पाँव वहाँ से लौट पड़े। प्रयाग पहुँचकर उन्होंने वैरागी का बाना धारण

किया। तुलसीदास के इस वैराग्य से उनकी पत्नी का सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। *भविष्य पुराण* में कथित 'नारी शिक्षां समादाय' से भी इसका समर्थन होता है। प्रियादास ने *भक्तमाल* की टीका में इसकी चर्चा विस्तार से की है और सभी ग्रन्थकारों ने इसका समर्थन किया है—भले ही उनके लिखे ब्योरों में भेद हो। स्वयं कवि ने कहा है—'हम तो चाखा प्रेम रस, पत्नी के उपदेस।' आगे चलकर, जान पड़ता है, काशी में रहते समय कुछ लोगों ने उन पर ऊटपटाँग आरोप किये होंगे। तभी उन्होंने चिढ़कर *विनय पत्रिका* में कहा था—'ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।' इससे भी उनके गृहस्थाश्रम से विरक्त होने की परम्परागत धारणा पुष्ट होती है।

तुलसीदास के मन में रामभक्ति के जो संस्कार लड़कपन में ही जम चुके थे वे उनके वैराग्य लेने के पश्चात् फिर पल्लवित हुए। वे अब अपने इष्टदेव राम की खोज में निकल पड़े। अपने प्रभु के लीलाधाम अयोध्या पहुँचे। कुछ दिनों तक वहाँ रह कर उन्होंने चारों धामों की यात्रा करने का निश्चय किया। जगन्नाथ-पुरी, रामेश्वरम् और द्वारावती होते हुए बदरिकाश्रम पहुँचे। वहाँ से मानसरोवर गये। इस प्रकार उन्होंने परिव्राजक के रूप में समस्त भारतवर्ष का प्रत्यक्ष दर्शन किया। देश की दशा को अपनी आँखों से देखा। समाज की क्या दुर्दशा थी, जनता के धार्मिक विचारों में क्या अव्यवस्था थी, आर्थिक चिन्ताओं ने किस प्रकार लोगों को ग्रस रखा था और राजनीतिक आतङ्क ने देश की शक्ति को कैसे छिन्न-भिन्न कर दिया था—यह सब उन्होंने भली भाँति देखा। वे साधु थे। इससे उन्हें तत्कालीन मुसलमान शासकों के प्रत्यक्ष और गुप्त चरों की आँख बचा-कर समाज के प्रत्येक वर्ग के भीतर घुसकर उसकी वास्तविक स्थिति से परिचित होने में कोई अड़चन न पड़ी होगी।

देश-दर्शन

इस प्रकार देश-दर्शन कर चुकने पर वे चित्रकूट में रहकर

अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए साधन-रत हुए। नित्य राम-कथा कहत और राम-भक्ति का गूढ़ तत्त्व वहाँ के साधुओं और वन-वासियों को समझाते। कहते हैं, यहीं उन्हें किसी प्रेत की सहायता से हनुमानजी के दर्शन हुए। वे कोढ़ी का रूप बनाकर नित्य राम-कथा के श्रोता हुआ करते थे। हनुमानजी की कृपा से तुलसी को भगवान् राम का साक्षात्कार हुआ। इस दोहे में इस भक्त और भगवान् के मिलन की कहानी अमर है—

चित्रकूट के घाट पर, भइ सन्तन की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसैं, तिलक देत रघुवीर॥

सम्भव है *विनय पत्रिका* के इस उद्धरण में इसी अथवा ऐसी ही किसी अन्य घटना की ओर सङ्केत हो—

तुलसी तोसों कृपालु जो कियो कोसलपाल
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो॥

चित्रकूट में अपने प्रभु की झाँकी देखने के अनन्तर तुलसीदासजी फिर परिभ्रमण के लिए निकले। इस यात्रा में उन्होंने काशी, जनकपुर, नैमिषारण्य, अयोध्या, मलीहाबाद, बिठूर, वृन्दावन आदि स्थानों का दर्शन किया। उन्होंने उत्तर भारत की दशा फिर से देखी। इस यात्रा में उन्हें देश के प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्रों की वास्तविक स्थिति देखने को मिली। यद्यपि तुलसीदासजी को अपने इष्टदेव के लीलाधाम होने के कारण चित्रकूट और अयोध्या अत्यन्त प्रिय थे तथा इन स्थानों में उन्होंने अधिक काल तक निवास भी किया था, तथापि उन्होंने जीवन का उत्तरार्द्ध काशी में ही व्यतीत किया। वहाँ वे कई स्थानों में रहे। हनुमान फाटक, गोपाल मन्दिर, प्रह्लाद घाट और सङ्कटमोचन उनके निवास-स्थान बतलाये जाते हैं। अन्तिम दिनों में वे अस्सीघाट पर रहते थे, जहाँ असी और गङ्गाजी का सङ्गम है। आजकल वह तुलसी-घाट कहलाता है। वहाँ गोस्वामी

काशी-निवास

जी की स्थापित की हुई सङ्कटमोचन की मूर्त्ति आज भी विद्यमान है। उसी मन्दिर में गोस्वामीजी की गुफा भी है। उनकी खड़ाऊँ के अतिरिक्त काठ का एक टुकड़ा भी रखा है, जो उस नाव का अवशेष कहा जाता है जिस पर बैठकर वे नित्य शौचादि से निवृत्त होने के लिए गङ्गापार जाया करते थे। कहते हैं, उन्हें हनुमान फाटक के निवासी मुसलमानों के उपद्रव के कारण उसे छोड़ना पड़ा था, गोपाल मन्दिर में उन्होंने *विनयपत्रिका* का कुछ अंश रचा था और अपने मित्र गङ्गाराम ज्योतिषी की सहायता से नगवा पर सङ्कट-मोचन हनुमानजी की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी। वह वहाँ आज भी विद्यमान है। अस्सी में गोस्वामीजी की प्रवर्तित रामलीला अब तक प्रचलित है। इस प्रकार, राजापुर में उनके जन्म-स्थान पर बने हुए स्मारक एवं उनके पूजित सङ्कटमोचन के विग्रह के अतिरिक्त चित्रकूट में उनके गुरु नरहरि दास का स्थान, अयोध्या का तुलसी-चौरा, जहाँ वे रहा करते थे और काशी के उक्त स्थान इस समय भी हमें अपने महात्मा कवि का स्मरण दिलाया करते हैं।

प्रेमी और भक्त

गोस्वामीज़ी ने देश भर का भ्रमण किया था। वे अनेक स्थानों में रह चुके थे। अपने आदर्श विचार और पुनीत आचरण के कारण वे उन सब लोगों के श्रद्धाभाजन बन गये होंगे जो उनके सम्पर्क में आये होंगे। वे अद्वितीय विद्वान्, प्रतिभाशाली कवि और रामायण के असाधारण व्यास थे। इससे पण्डित ही उनकी विद्वत्ता के सामने सिर नहीं झुकाते थे, सामान्य जन भी उनका सत्सङ्ग करके अपने मन, वचन और कर्म में उनका प्रभाव अनुभव करते रहे होंगे। गोस्वामीजी के जीवन वृत्तों में अनेक छोटे-बड़े लोगों की चर्चा आयी है। यहाँ स्थल-सङ्कोच के कारण उन सब का परिचय देना सम्भव नहीं। उनमें केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख किया जायगा। ऊपर लिखा जा चुका है कि वे

काशी में बहुत दिनों तक रहे। वहाँ उनके सम्बन्ध के प्रसिद्ध स्थानों का निर्देश भी हो चुका है। वहाँ के गङ्गाराम ज्योतिषी के लिए उन्होंने *रामाज्ञा प्रश्न* की रचना की थी। कहते हैं, संवत् १६५५ में उन्होंने उसकी जो प्रति लिखी थी वह बहुत दिनों तक ज्योतिषीजी के वंशजों के पास थी। अब भी उनके पास गोस्वामीजी का चित्र है, जो जहाँगीर के राज्य-काल में किसी समकालीन चित्रकार द्वारा अङ्कित बतलाया जाता है। काशी में उनके परम भक्त और सेवक टोडर रहते थे। वे भदैनी, नगवा आदि गाँवों के स्वामी भी थे। उनके देहावसान पर गोस्वामीजी ने उनके पुत्रों में बँटवारा कराया था। उस बँटवारे के पञ्चनामे का कुछ अंश उन्होंने स्वयं ही लिखा था। वह संवत् १६६९ में लिखा गया था और काशिराज के सङ्ग्रहालय में अब तक सुरक्षित है। गोस्वामीजी ने नर-काव्य न करने का निश्चय किया था। केवल इन्हीं टोडर के लिए वे अपने इस व्रत से डिग गये थे। जान पड़ता है ये अपनी राम-भक्ति के कारण ही गोस्वामीजी के प्रेम-पात्र हुए थे। शिव की उपासना के प्रधान केन्द्र और अन्य सभी प्रकार की उपासनाओं और भक्तिपद्धतियों के प्रमुख क्षेत्र काशीधाम में राम-भक्ति की दृढ स्थापना करने में टोडर गोस्वामीजी के कितने सहायक रहे होंगे यह नीचे उद्धृत दोहों से प्रकट होता है, जो टोडर के देहावसान के समय उनके भाव प्रकट करते हैं—

चार गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में, अथये टोडर दीप॥
तुलसी राम सनेह को, सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो, सब कहि रहे उतार॥
तुलसी उर-थाला विमल, टोडर गुनगन बाग।
ये दोउ नैनन सींचिहौं, समुझि-समुझि अनुराग॥

गोस्वामीजी की निधन-तिथि होने के कारण टोडर के वंश

के लोग अब तक श्रावण कृष्णा तीज को ब्राह्मण को सीधा दिया करते हैं। गोस्वामीजी टोडर को नहीं भूल सके थे और उनके वंशज भी अपने पूर्वज के पूज्य का त्याह नहीं भूल सकते।

हिन्दी के विख्यात कवि और अकबर के प्रसिद्ध सेनाध्य. रहीम भी गोस्वामीजी के स्नेहियों में गिने जाते हैं। उन्होंने इस दो. में कवि के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है—

सुरतिय नरतिय नागतिय, अस चाहत सब कोय।
गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥

किंवदन्ती है कि अजमेर से राजा मानसिंह भी उनके पास आया करते थे। राजापुर में आज भी जो भूमि, घाट की उतराई आदि की माफी गोस्वामीजी के शिष्य गणपति का वंशज उपाध्याय-परिवार भोग रहा है उसे, परम्परा से माना जाता है कि, अकबर ने स्वयं अर्पित किया था। इससे अकबर और उनकी भेंट का भी अनुमान होता है। आश्चर्य नहीं कि रहीम और मानसिंह के द्वारा प्रशंसित महात्मा के दर्शन के लिए साधु-सन्तों के प्रति श्रद्धालु अकबर ने आगरा से इलाहाबाद जाते-आते समय इन दोनों नगरों के बीच यमुना-तट पर पड़ने वाले राजापुर की यात्रा की हो।

तुलसीदास राम के अनन्य भक्त होते हुए भी कितने उदार विचारों के थे यह उनके रचे ग्रन्थों में प्रमाणित होता है (और इस विषय में हम आगे विचार भी करेंगे।) इसी से वे उन विद्वानों, साधु-सन्तों आदि से अवश्य मिलते-जुलते रहे होंगे जिनके दार्शनिक विचार उनसे मेल नहीं खाते थे—इसमें सन्देह नहीं। उन दिनों काशी में मधुसूदन सरस्वती रहते थे। वे शङ्कराचार्य के अनुयायी और उनके अद्वैत सिद्धान्त के परम श्रेष्ठ मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने गुसाईंजी के सम्बन्ध में ये उद्‌गार प्रकट किये थे—

आनन्दकानने कश्चिज्जङ्गमस्तुलसी तरुः।

कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥

मानस के अनन्य प्रेमी काशिराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह ने इसका रूपान्तर यों किया था—

तुलसी जङ्गम तरु लसै, आनँदकानन खेत।
कविता जाकी मञ्जरी, राम भ्रमर रस लेत ॥

इसका आशय यह है कि (अन्यत्र तुलसी को स्थावर रूप में पाया जाता है, किन्तु यहाँ) आनन्दवन (काशी) में जङ्गम (चलता-फिरता) तुलसी-तरु है। कविता ही उस तुलसी-तरु की मञ्जरी है। उस पर राम-रूपी भ्रमर सदा गुञ्जार किया करता है। उसकी कविता से राम की ही मधुर गूँज उठा करती है। मधुसूदन सरस्वती जी ने महात्मा तुलसीदास को अत्यन्त निकट से देखने पर ही ऐसा कहा होगा। इससे विदित होता है कि ये दोनों विद्वान् महात्मा बहुधा सत्सङ्ग किया करते होंगे।

काशी के बाहर भी गोस्वामीजी के अगणित प्रेमी रहे होंगे। उनमें रामचन्द्रिका के कवि केशवदास का नाम लिया जाता है। उनको ही अपने भक्तमाल का सुमेरु बनाने वाले नाभादास भी इस प्रसङ्ग में भुलाये नहीं जा सकते। *भक्तमाल* में नाभादास ने उनका जो परिचय दिया है उससे इतना तो स्पष्ट है कि तुलसीदास की रामभक्ति लोक-प्रसिद्ध हो चुकी थी। देखिये, भक्तों के पारखी नाभाजी क्या कहते हैं—

त्रेता काव्य निबन्ध करी, सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उद्धरै, ब्रह्म हत्यादि परायन ॥
अब भक्तनि सुख दैन, बहुरि लीला बिस्तारी।
राम चरन रसमत्त, रहत अहनिसि व्रतधारी ॥
संसार अपार के पार को, सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो ॥

कवि वाल्मीकि के अवतार माने जाते थे यह नाभाजी के

साक्ष्य पर ही न मानिये। जान पड़ता है *कवितावली* में स्वयं वे इसका सङ्केत कर गये हैं—

> रामनाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप,
> तुलसी से जग मानियत महा मुनी सो।

ऊपर महात्माओं और विद्वानों के द्वारा तुलसीदासजी की प्रतिष्ठा का प्रमाण दिया जा चुका। अब कुछ ऐसे उद्धरण दिये जायँगे जिनसे यह प्रकट होगा कि उनको इस प्रतिष्ठा का क्या फल मिला था। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे बहुत ही साधारण स्थिति के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्हें जो यश और सम्मान मिला था वह सब, उनकी समझ में, राम-भक्त होने के नाते ही उपलब्ध हुआ था। *दोहावली* में उन्होंने लिखा है—

ख्याति और प्रतिष्ठा

> घर घर माँगे टूक पुनि, भूपति पूजे पायँ।
> जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय॥

और,

> माँगि मधुकरी खात ते, सोवत गोड़ पसारि।
> पाय प्रतिष्ठा बढ़ि परी, ताते बाढ़ी रारि॥

कवितावली में तो अनेक ऐसे छन्द हैं जिनमें कवि ने राम के महत्त्व और अनुग्रह का वर्णन करते हुए अपनी लोक-प्रतिष्ठा का भी उल्लेख किया है। यथा,

> हौं तो सदा खर को असवार, तिहारोई नाम गयन्द चढ़ायो।

तथा,

> रावरी राम बड़ी लघुता, जस मेरो भयो सुख दायक ही को।

और,

> राम को कहाइ, नाम बेचि बेचि खाइ, सेवा
> संगति न जाइ पाछिले को उपखानु है।

तेहू तुलसी को लोग भलो भलो कहै, ताको
दूसरो न हेतु, एक नीके कै निदानु है।

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि गोस्वामी तुलसीदास समाज में रामभक्त के रूप में बहुत ही विख्यात हो गये थे, लोग उनके दर्शन के लिए उत्सुक रहते थे और उनका अत्यधिक आदर करते थे। इस आदर और प्रतिष्ठा के कारण उनका मन कभी लोकैषणा से कारण भक्ति-पथ से विचलित हो जाता होगा यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु लोक-प्रतिष्ठा उनके भजन-भाव में बाधा पहुँचाती होगी इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। इससे ऐसा समझते रहे होंगे कि—

लोकमान्यता अनल-सम, कर तप कानन दाह।

और तभी जो तुलसी नाभादास के कथनानुसार 'राम चरन रस मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी' वे भक्ति-साधना में निरन्तर रहते हुए भी उससे सन्तुष्ट नहीं होते थे और सदा अतृप्त रहकर अपने आपको कोसा करते थे। कहते हैं—

तुलसी गुसाईं भयो, भोंडे दिन भूलि गयो।

अथवा,

तुलसी अनाथ सों सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सीलसिन्धु अपने सुभाय को।
नीच महि बीच पति पाइ भरुआइ गो,
विहाय प्रभु भजन वचन मन काय को।

(कवितावली)

इस लोक-सम्मान के कारण कवि की ग्लानि का ठिकाना न न था। वे समझते थे कि इससे राम-भजन में बाधा पड़ती है। उधर जहाँ लोगों में उनके गुण और कर्म देखकर उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा बढ़ रही थी वहीं कुछ ऐसे भी थे जिनसे परायी विभूति फूटी आँख

नहीं देखी जाती थी और जो सदा 'विन काज दाहिने बायें' रहा करते थे। तुलसीदास दोहावली में कहते भी हैं कि 'रावन-रिपु के दास तें कायर करहिं कुचालि।' जान पड़ता है उनकी उदार धार्मिक भावना के कारण बहुत से अनुदार कट्टरपन्थी उनकी निन्दा किया करते थे। उनके वैरागी वेश के कारण उनकी जाति के विषय में भी आक्षेप किया करते थे। सम्भव है इसी से उन्हें कहना पड़ा होगा—

विरोधियों की प्रतिक्रिया

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न कोऊ॥

तथा,

मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं राम को॥

(कवितावली)

जान पड़ता है कुछ क्षुद्र जन धर्मान्धतावश उनको तङ्ग भी किया करते थे। परन्तु वे इन बाधाओं से घबराने वाले जीव न थे। स्वयं कहते हैं—

कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहैं राम तो मारिहै को रे?

(कवितावली)

और,

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की वैर और के कहा सरै।
तुलसिदास रघुवीर बाहु बल सदा अभय काहू न डरै।

(विनयपत्रिका)

गोस्वामीजी ने राम-भक्ति का परिणाम माना था कि 'अभय होय जो तुमहि डेराई' और स्वयं राम के द्वारा बन्दरों से कहलाया भी था कि

'सुमिरेहु मोहि डरपहु जनि काहू।' फिर भला वे स्वयं ही किसी यातना से कैसे भयभीत हो सकते थे? वे अपने निश्चित मार्ग पर अविचल रहे और निश्चय ही उनके विरोधी उनके शरणापन्न हुए होंगे।

अपनी प्रतिष्ठा बढ़ने पर उपासना में बाधा पड़ती देखकर तुलसीदासजी की आत्म-भर्त्सना की चर्चा ऊपर की जा चुकी

रामोपासना की अनन्यता

इसी सम्बन्ध में उन्होंने *कवितावली* के अन्तर्गत *हनुमान बाहुक* में 'तुलसी गोसाइँ भयो भोंडे दिन भूलि गयो' लिखा है। इसके अतिरिक्त *कवितावली* में अन्यत्र 'गोसाईं' शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है।

नाम के प्रताप बाप आजु लौं निबाही नीके,
आगे को गोसाइँ स्वामी सबल सुजानु है।

और *विनय पत्रिका* के नीचे उद्धृत अंश में 'गोसाइँ' का यों प्रयोग किया है—

मेरे भले को गोसाईं पोच को न सोच संक
हौं किये कहौं सौंह साँची सीय पीय की?

उक्त अवतरणों में प्रयुक्त 'गोसाईं' का अर्थ कभी कभी दशनामी गोसाईं किया जाता है और अनुमान किया जाता है कि उन्होंने शङ्कराचार्य प्रवर्तित संन्यास की दीक्षा ले ली थी। कभी काशी के 'लोलार्क कुण्ड' के किसी 'तुलसीदास मठ' के मिल जाने पर उक्त अनुमान के लिए तुलसीदास को उस मठ का 'गोसाईं' मान लिया जाता है। परन्तु दशनामी 'गोसाइयों' के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य भी गोसाईं वा गोस्वामी उपाधि धारण करते हैं और उत्तर प्रदेश के पूरबी जनपदों में कहीं कहीं कुछ गृहस्थों को भी गोसाईं कहने की प्रथा है। तुलसीदासजी के जिन ग्रन्थों से उक्त उद्धरण लिये गये हैं उनमें पूरे प्रसङ्ग को देखने से यह सिद्ध नहीं होता, वे राम की उपासना छोड़कर कभी दशनामी संन्यासी हो गये थे। वैसे उन्होंने

अपने *मानस* का प्रेरक होने के कारण लिखा भी है कि 'महेस मान्यो गुरु कै', किन्तु वस्तुतः वे सदैव अनन्य रामोपासक रहे।

कुछ महत्त्व पूर्ण घटनाएँ

आज विलायती प्रभाव से हिन्दू समाज में, विशेषकर अँगरेजी पढ़े-लिखे समुदाय एवं उसके प्रभाव से कुछ लोगों में, कुछ ऐसी धारणाओं ने घर कर लिया है जिनसे नास्तिकता प्रकट होती है। फिर भी दैवी शक्ति पर अविचल विश्वास हाथ से नहीं जाने दिया गया। परन्तु उन दिनों मुसलमानी प्रभाव व्याप्त होने पर भी परम्परागत विश्वास हमारे समाज से उठे न थे। दैवी शक्तियों से सम्पन्न महानुभावों पर लोगों की अटूट आस्था बनी थी। वे मानते थे कि साधु-महात्मा असाधारण और चमत्कार-पूर्ण काम भी कर सकते थे। सम्भवतः इसी आधार पर किन्तु हमारी समझ में सत्य ही गोस्वामीजी के जीवन-चरितों में बहुत सी अलौकिक घटनाओं का वर्णन है। उनमें हनुमानजी और रामचन्द्रजी के दर्शन के सम्बन्ध में चित्रकूट की घटना का उल्लेख ऊपर हो चुका है। कहते हैं चित्रकूट में ही उन्हें हिरण के पीछे आखेट के लिए दौड़ते हुए धनुर्द्धर राम-लक्ष्मण के भी दर्शन हुए थे। सम्भव है *गीतावली* के इन चरणों में इसी प्रत्यक्ष दर्शन का सङ्केत हो—

> सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
> धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछे।

तथा,

> खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।

प्रसिद्ध है कि तुलसीदासजी से बादशाह ने कुछ चमत्कार दिखाने को कहा। उन्होंने कहा कि मैं राम को जानता हूँ, करामात नहीं। इस पर बादशाह ने उन्हें बन्दी कर लिया। तुलसीदासजी ने हनुमानजी का स्मरण किया। बन्दी-गृह को बन्दरों ने घेर लिया। उनके

उत्पात से बादशाह व्याकुल हुआ। वह तुलसीदासजी की शरण गया। उन्होंने उसे बतलाया कि अब तो यह भवन बन्दरों का हो चुका। इसे उनके निमित्त ही छोड़ देना पड़ेगा। उसने ऐसा ही किया। प्रिया-दास ने स्व-रचित *भक्तमाल* की टीका में इस प्रकार इस घटना का वर्णन किया है। नागरीदास ने पद-*प्रसङ्गमाला* में भी इसकी चर्चा की है, परन्तु कुछ हेर फेर के साथ। उन्होंने उक्त बादशाह का नाम जहाँगीर बतलाया है और लिखा है कि उसने तुलसीदास से करामात दिखाने का अनुरोध किया। उन्होंने ऐसा करने में असमर्थता प्रकट की। इस पर जहाँगीर ने उन्हें बन्दी कर लिया। तब अनीराय बडगूजर ने गोस्वामीजी से प्रार्थना की कि महाराज, आप ऐसा करें जिससे हिन्दुओं का मार्ग न रुके और फिर कभी कोई किसी वैष्णव को न सतावे। यह सुनकर गोस्वामीजी ने हनुमानजी की स्तुति की—

तुमहिं न ऐसी चाहिये हनुमान हठीले।
साहिब सीताराम से तुमसे जु वसीले।
तुमरे देखत सिंघ के सिसु मैंडुक लीले।
जानति हूँ कलि तेरेऊ मनु गुन गन कीले।
हाँक सुनत दसकन्ध के भये बन्धन ढीले।
सो बल गयो किधौं भये अब गरब गहीले।
सेवक को परद फटै तुम समरथ सी ले।
साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम रँगीले।

इसी समय अगणित बन्दरों ने किले को घेर लिया। बादशाह तुलसी के पैरों पड़ा। उसने उन्हें मुक्त कर दिया। बादशाह ने उनके कहने से 'सलेमगढ़' उन बन्दरों के लिए छोड़ दिया।

इसी प्रकार गोस्वामीजी के कुछ अन्य अलौकिक कृत्यों का भी वर्णन किया जाता है। इनके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता

है कि तुलसीदासजी उच्चकोटि के महात्मा थे। वे सदा भगवद्भजन में लगे रहते थे। कवितावली में कुछ ऐसे छन्द हैं जिनमें काशी में महामारी के प्रकोप का वर्णन है। इसी के अन्तर्गत हनुमान बाहुक के कुछ छन्दों में उनकी बाहु-पीड़ा और अन्य प्रकार की शारीरिक व्याधियों की चर्चा है। कुछ लोगों का अनुमान है कि वे महामारी से आक्रान्त तो नहीं हुए, किन्तु सम्भव है बाहुक में वर्णित व्यथाओं के कारण ही उनका शरीर छूटा हो। परन्तु इसे अनुमान मात्र समझना चाहिये, प्रमाण कोटि में न लेना चाहिये। जीवन-यात्रा की समाप्ति का जो भी कारण रहा हो, एक दिन वह काल आ पहुँचा अवश्य। कहा जाता है अन्त समय में तुलसीदासजी ने क्षेमकरी नाम की चिड़िया को देखकर यह सवैया कहा था—

जीवन यात्रा का अन्त

कुंकुम रङ्ग सुअङ्ग जितो मुखचन्द सों चन्दन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विषाद हरी है॥
गौरी कि गङ्ग विहङ्गिनि वेष कि मञ्जुल मूरति मोदभरी है।
पेखु सप्रेम पयान समै सब सोच विमोचन क्षेमकरी है॥

और उनके अन्तिम बोल ये थे—

राम नाम जस बरनि कै, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, अबही तुलसी-सोन॥

गोस्वामीजी की निधन-तिथि के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध चला आता है—

संवत् सोरह सै असी, असी गङ्ग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तजे शरीर॥

परन्तु *मूल गोसाईं चरित* में यह दोहा इस रूप में मिलता है—

संवत् सोलह सै असी, असी गङ्ग के तीर।
सावन स्यामा तीज शनि, तुलसी तजे सरीर॥

गणना से यह दूसरी तिथि ठीक निकलती है। गोस्वामीजी के

स्नेही टोडर के वंशज आज भी उनकी इसी निधन-तिथि को उनकी वर्षी मानते और उसके उपलक्ष्य में ब्राह्मण को सावन बदी तीज को सीधा दिया करते हैं। इससे भी जान पड़ता है कि श्रावण कृष्णा तृतीया, संवत् १६८० को ही राम-नाम के अनुपम गायक तुलसीदास पाञ्च-भौतिक शरीर त्यागकर अपने यश रूपी शरीर से अमर हुए थे।

ऊपर गोस्वामी तुलसीदास के जीवन की कुछ झलक दिखलायी गयी है। उसके महत्त्व को समझने के लिए उनके स्वभाव की विशेषताओं को भी जान लेना चाहिये। यह तो लिखा जा ही चुका है कि वे बाल्यावस्था में साधुओं के साथ रहने लगे थे। वे सन्त वैष्णव थे। उनका रहन-सहन आडम्बर-विहीन था। उनका स्वभाव सरल था। वे निरभिमान और सन्तोषी थे। सब से प्रेम करते थे। सदाचारी थे। भगवच्चर्चा में लगे रहते थे। ऐसे लोगों के बीच में रहकर बालक तुलसीदास के मन में सज्जनोचित आचरण के प्रति आकर्षण हुआ। उन्होंने स्व-कथित भक्त के इस लक्षण को अपनाया—

स्वभाव

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुबर-प्रेम प्रसूति॥

(दोहावली)

उनके मन, वचन और कर्म में सरलता थी। अहंभाव उन्हें छू तक न गया था। आज इसमें तो सन्देह नहीं कि उनसे बढ़कर कोई दूसरा कवि हमारी भाषा में नहीं हुआ और संसार भर के कवियों के बीच अपनी कवित्त्व-शक्ति और लोक में प्रभाव के विचार से तो वे बहुत ही श्रेष्ठ माने जाते हैं। फिर भी जब वे कहते हैं कि 'कवि न होउँ नहिं चतुर कहावौं' तब उनकी नम्रता देखते बनती है। उनकी रचनाएँ उनके काव्य-तत्त्वों की मर्मज्ञता की साक्षी हैं, किन्तु वे कहते यह हैं कि 'कवित विवेक एक नहिं मोरे'। यह उनकी नम्रता नहीं तो और क्या है? *कवितावली* और *विनयपत्रिका* में उनकी दीनता का प्रत्यक्ष दर्शन होता

है। अपने राम के सामने वे अपना कच्चा चिट्ठा सुनाते हैं। उससे उनकी दीनता की महानता प्रकट होती है।

वे अनन्य भक्त थे। अपने इष्टदेव को ही सर्वस्व मानते थे। रामचन्द्रजी पर उनका अटल विश्वास था।

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥

वे राम को परात्पर ब्रह्म मानते थे। जो राम की ईश्वरता पर सन्देह करता अथवा कराता उस पर वे आग-बबूला हो जाते। *रामचरित मानस* में शिव ने पार्वती के सन्देह का निराकरण करते समय उनसे जो कटूक्तियाँ कही थीं वे भी गोस्वामीजी के इसी स्वभाव की द्योतक हैं। साधुवेशधारी पाखण्डियों की समाज-व्यवस्था को बिगाड़नेवाली बातें उन्हें अप्रिय थीं। वे उन्हें सह नहीं सकते थे। अलखिये की फटकार का नीचे लिखा दोहा उनकी इसी मनोवृत्ति का सूचक है—

हम लख हमहिं हमार लख, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै, राम राम जपु नीच॥

वे राम के प्रेम के सामने किसी वस्तु को कुछ नहीं समझते थे। जो भी उसमें बाधक हो उसे त्यागने में वे तनिक भी आगा-पीछा करना उचित नहीं समझते थे—

जाके प्रिय न राम बैदेही,
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

वे समाज की वर्णाश्रम-व्यवस्था का समर्थन करते थे। ब्राह्मण की श्रेष्ठता स्वीकार करते थे। उसे पूज्य मानते थे। शूद्र को सिर चढ़ाना उन्हें अप्रिय था। इस मर्यादा का पालन वे लोकहित के लिए आवश्यक समझते थे। किन्तु वे ब्राह्मण के पतन को देखकर क्षुब्ध भी होते थे। 'बिप्र निरच्छर लोलुप कामी' उनकी सत्यप्रियता का प्रमाण है। उन्हें जैसे ब्राह्मण का अपने विद्याध्ययन धर्म से गिरना बुरा लगता था वैसे ही

शूद्र का व्यासगद्दी पर बैठकर पुराण वाँचना भी नहीं सुहाता था। दोनों का अपने-अपने धर्म से भ्रष्ट होना समाज का पतन सूचित करता है। यह उन्हें इष्ट न था। इसीलिए उन्होंने समाज-विरोधी सभी कार्यों की बड़ी कड़ी निन्दा की है। उनके प्राचीन व्यवस्था के समर्थन का यह अर्थ न लगाना चाहिये की वे पुरानी बातों का आँख मूँदकर समर्थन किया करते थे। राम के सम्बन्ध से नीच वर्ण का व्यक्ति भी पूजनीय हो जाता है यह उन्होंने खुलकर कहा है। उनके *रामचरितमानस* में गुह, शवरी आदि के साथ वसिष्ठ, राम आदि के व्यवहार इस बात के सूचक हैं कि निम्न-श्रेणी के लोगों से उच्चवर्णवालों को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये। जो शूद्र दम्भ और अभिमान दिखाने पर फटकारा जाता है, वही विनय और सम्मान प्रदर्शित करने पर गले लगाया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वर्ण-धर्म की मर्यादा की रक्षा करते हुए भी गोस्वामीजी मानवोचित सद्गुणों और सदाचार से युक्त व्यक्तियों के प्रति उदार व्यवहार के समर्थक हैं। वे अत्यन्त नम्र थे। वे नम्रता से दुष्टों तक को जीतने का प्रयत्न करना ठीक समझते थे। वे निन्दकों की भी प्रशंसा करके उन्हें ठीक करना उचित मानते थे। परन्तु वे कायरता के कारण अथवा भय से ऐसा करना उचित नहीं समझते थे। वे निर्भय थे। कहते थे—

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै ?

भगवान् का भक्त किसी से नहीं डरता। दैवी-विभूति अभय उसको प्राप्त हो जाती है। इसी अभय से सम्पन्न होकर गोस्वामीजी ने अगणित बाधाओं और विपत्तियों का सामना करते हुए अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। यह उनकी दृढता का प्रमाण है। इन सब गुणों के कारण ही वे इतने दिनों से ऋषितुल्य पुजते आ रहे हैं।

———

कृतियाँ

प्रस्तावना

गोस्वामी तुलसीदास ऐसे ज्ञानी नहीं थे जो अपने आप विचार-कर सब तत्त्व जान लेते थे और अपने पूर्ववर्ती विचारकों को तुच्छ समझकर ज्ञान के एकमात्र ठेकेदार स्वयं बन जाते थे। उन्होंने तो वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र, पुराण, काव्य, इतिहास, नाटक आदि के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र का गुरु से विधिवत् सम्यक् रीति से अध्ययन किया था। फिर उन्होंने मनन करके अपने लिए काव्य और कार्य का क्षेत्र निश्चित किया था। तप और साधन के द्वारा अपने मन को विकार-रहित ही नहीं, शुद्ध भी किया था। उसे अपने इष्ट के रङ्ग में रँग कर उनसे एकाकार कर दिया था। इस प्रकार गुरु की कृपा और अध्ययन से प्राप्त प्रभु के रूप की आत्मानुभूति करने के उपरान्त ही उन्होंने उसका निरूपण किया।

वे समाज के उच्च वर्ण में अवश्य उत्पन्न हुए थे, किन्तु उनका परिवार सम्पन्न न था। वे ब्राह्मण की भिक्षा-वृत्ति अपनाने के लिए विवश हुए। उन्हें समाज के सभी समुदायों और श्रेणियों के लोगों के बीच जाने और उनकी स्थिति, रुचि एवं आवश्यकताओं के जानने का अवसर मिला करता। उधर साधु-मण्डली में प्रविष्ट होने पर उन्हें विविध सम्प्रदायों के साधु-सन्तों के समुदायों की सच्ची स्थिति की जानकारी हुई। वे देश के एक ओर से दूसरे छोर तक पर्यटन करके उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक दशा से परिचित हुए। उन्होंने मनुष्य का उत्थान तथा पतन देखा, और देखा भारत की प्रकृति का रम्य रूप भी। उन्होंने अपने जीवन में सभी प्रकार की स्थितियों का अनुभव किया। भिक्षा माँगने से लेकर राजाओं के

द्वारा प्रतिष्ठित होने और पूजे जाने और सामान्य साधु की स्थिति से लेकर महर्षि के समान पूज्य होने तक की दशा देखी। विविध वर्गों के लोग उनके निकट आये। बड़े-छोटे, पण्डित-मूर्ख, राव-रङ्क, साधु-गृहस्थ सभी उनको मानव जीवन के विस्तृत रङ्गमञ्च पर विविध रूप की झाँकी दिखलाया करते।

इस प्रकार गुरु के धर्मोपदेश और उनके द्वारा उपलब्ध साहित्य और शास्त्र के ज्ञान, स्वाध्याय, मनन, पर्यटन और व्यापक अनुभव के पश्चात् गोस्वामीजी ने काव्य-रचना में हाथ लगाया। जीवन का इतना व्यापक, सूक्ष्म और सच्चा ज्ञान कदाचित् ही किसी अन्य कवि को हुआ हो और अध्ययन के इतने विस्तृत क्षेत्र का पर्यवेक्षण भी सम्भवतः दूसरे कवि ने न किया हो। अपने प्राचीन वेद, पुराण, इतिहास आदि के अध्ययन के द्वारा उन्होंने काव्य का जो विषय चुना उसे चिन्तन और अनुभूति के आधार पर भव्य और स्वाभाविक रूप दिया। फिर उन्होंने सोचा होगा कि तत्कालीन समाज के लिए ही नहीं युग-युग के लिए भी वह काव्य कैसे कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। तब उन्होंने अपना आदर्श प्रकट किया, जो शाश्वत सिद्ध हुआ। उन्होंने काव्य की सार्थकता तभी मानी जब उसमें राम-चरित का गान हो। उन्होंने प्राकृत जन की विरुदावली बखानना निकृष्ट कवि-कर्म माना। उनकी घोषणा है—

> भगति हेतु बिधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई।
> रामचरित सर बिनु अन्हवायें, सो श्रम जाइ न कोटि उपायें।
> कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी, गावहिं हरि जस कलिमलहारी।
> कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।

गोस्वामीजी ने उसी काव्य को श्रेष्ठ माना जिसमें भगवान् की कीर्ति-गाथा का वर्णन हो। उनकी धारणा है कि ऐसा ही काव्य सज्जनों के हृदय का हार होता है। ऐसे काव्य की प्रशंसा सज्जनों के

द्वारा होती है। उन्हीं के वचन सुनिए—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना, स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जौं बरखै बर बारि बिचारू, होहिं कबित मुकुतामनि चारू।
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥

अतएव तुलसीदासजी ने अपने इस आदर्श के पालन का व्रत लिया। उन्होंने रामचरित के कीर्तन में अपनी सारी जानकारी, अनुभूति और साधना लगा दी। विविध वृत्तों और शैलियों में उन्होंने श्रीराम के यश का गान किया। इस प्रकार उन्होंने विभिन्न रुचि और क्षमता सम्पन्न प्रायः सभी लोगों—विद्वानों-साधारण जनों, गृहस्थों-साधुओं, पुरुषों-स्त्रियों आदि—के लिए राम-रसायन प्रस्तुत किया और प्रकारान्तर से अपना असाधारण काव्य-कौशल प्रदर्शित किया। कवित्व प्रदर्शन के लिए उन्होंने ऐसा नहीं किया, वह तो अपने आप वैसे ही प्रकट हो गया, जैसे कस्तूरी-मृग की नाभि के भीतर छिपी कस्तूरी की सुगन्ध अनायास ही प्रकट हो जाती है।

उनके लिखे हुए ये काव्य प्रसिद्ध हैं—*राम-चरितमानस, गीतावली, विनय-पत्रिका, जानकी-मङ्गल, पार्वती-मङ्गल, रामलला-नहछू, दोहावली,*

ग्रन्थ

कवितावली (*कवित्त रामायण, जिसमें हनुमान बाहुक भी सम्मिलित है*), *रामाज्ञा, वैराग्य सन्दीपिनी, कृष्ण-गीतावली* और *बरवै रामायण*। तुलसीदासजी के भक्तों में रामायण के व्यासों की परम्परा अब तक चली आ रही है। उन लोगों के बीच गोस्वामीजी के रचे यही द्वादश ग्रन्थ मान्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी काव्य हैं जो तुलसी-कृत कहे जाते हैं। उनके नाम ये हैं—*हनुमान चालीसा, सङ्कट मोचन, तुलसी सतसई, कुण्डलिया रामायण, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण, छन्दावली रामायण, मङ्गल रामायण, मङ्गलावली, रामुक्तावली, राम-*

लता, नामकला कोषमणि, ज्ञान कोष परिकरण, ज्ञानदीपिका और *गीता भाष्य*। इन ग्रन्थों में कुछ ऐसे हैं जिनकी शैली, शब्दावली, भाषा और विचारावली गोस्वामीजी के रचे हुए अन्य काव्यों से पूर्णतया मेल खाती है। इससे उन्हें उनकी कृति मान लेने में विशेष अड़चन नहीं दीखती, किन्तु बहुत से ग्रन्थ उनके सिद्धान्त और काव्य-रचना की पद्धति से अलग दिखलायी पड़ते हैं। इससे उचित तो यही प्रतीत होता है कि उन्हें मानसकार की कृति न माना जाय। सम्भवतः ये किसी ऐसे व्यक्ति के बनाये हों जिसका भी नाम तुलसीदास ही रहा हो अथवा जिसने अपना नाम तुलसीदास रख लिया हो। *रामचरित मानस* के कुछ संस्करणों में ऐसी बहुत सी छोटी-बड़ी कथाएँ मिला दी गयी हैं, जिनका गोस्वामीजी ने *मानस* के कथा-प्रकरण में सङ्केत मात्र किया था। यहाँ तक कि लवकुश काण्ड नाम से नया काण्ड ही रच डाला गया। जान पड़ता है कि मूल ग्रन्थ को अपूर्ण समझ कर अथवा सामान्य पाठक वा श्रोता को अन्तर्कथा स्पष्ट करने के विचार से किसी कथावाचक व्यास ने अपनी ओर से उन कथाओं को गोस्वामी जी की ही शैली में रचकर यथास्थान रख दिया है। सम्भव है यह काम कई व्यक्तियों ने किया हो और एक ही समय में नहीं, भिन्न-भिन्न समयों में भी किया हो, परन्तु इस प्रकार के क्षेपकों के रचयिता अथवा रचयिताओं ने कहीं भी अपना नाम नहीं दिया। हो सकता है कि अपने को छिपाकर वर्ण्य-विषय का महत्त्व बढ़ाने के प्रयोजन से उन्होंने ऐसा किया हो। इसी प्रकार, जान पड़ता है किसी वास्तविक तुलसी नाम के अथवा इस उपनाम के अन्य कवि ने उक्त काव्यों की रचना की हो। अतः ये मानसकार के ही बनाये हैं यह असन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। इसलिए इनपर हम विचार ही न करेंगे और सर्वमान्य द्वादश ग्रन्थों की ही चर्चा करेंगे तथा उनके आधार पर कवि की कला, विचार-पद्धति और महिमा के निरूपण का प्रयत्न करेंगे।

महात्मा तुलसीदास के रचे हुए उक्त द्वादश काव्यों में कुछ प्रबन्ध हैं और शेष मुक्तक। *रामचरित मानस*, *जानकी-मङ्गल*, *पार्वती-मङ्गल*, *कवितावली*, *गीतावली* और *कृष्ण गीतावली* में कथा-प्रबन्ध है। इसमें सदेन्ह नहीं कि अन्तिम तीन काव्यों में कथा का क्रम-पूर्वक वर्णन अवश्य है, किन्तु उनके पद मुक्तक हैं। उनमें कथा का निर्वाह प्रबन्ध-काव्य के रूप में अभीष्ट ढङ्ग से नहीं किया गया। शेष काव्यों में *रामचरित-मानस*, *कवितावली* और *गीतावली* में कवि ने अपने इष्टदेव राम का चरित अङ्कित किया है। *जानकी-मङ्गल* में राम और सीता के विवाह की कथा गायी है। इससे इसे भी राम-चरित के ही अन्तर्गत समझना चाहिये। *कृष्णगीतावली* में श्रीकृष्ण का चरित चित्रित किया है। जैसा आगे चलकर बतलाया जायगा, राम के अनन्य उपासक होते हुए भी तुलसीदासजी की मनोवृत्ति सङ्कुचित और साम्प्रदायिक न थी। उनकी उदार भावना में राम और कृष्ण में कोई भेद नहीं था। इससे इस काव्य के द्वारा उनकी उपासना की अनन्यता में बाधा नहीं पड़ती। *पार्वती-मङ्गल* में शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। राम की उपासना-पद्धति के आदि आचार्य शिव हैं और पार्वती उनकी चरितावली को शिव के द्वारा लोक के सम्मुख उपस्थित करने की निमित्त ठहरीं। इसलिए उनकी कथा कहकर कवि ने अपनी अपनायी हुई भक्ति पद्धति को पुष्ट ही नहीं किया, अपितु अपनी उदार भावना का परिचय भी दिया है। अब रहे *रामलला-नहछू*, *बरवै-रामायण* और *रामाज्ञा*। सो इनका सम्बन्ध भी राम से ही है। पहली दो कृतियों में कथानक का निर्वाह करने की चेष्टा दिखलायी पड़ती है। इस कारण इन्हें उक्त पहले वर्ग की प्रबन्ध रचनाओं के बीच रखा जा सकता है। *रामाज्ञा* में भी कथा के सूत्र से ऐसे दोहों का सङ्कलन है जिनमें राम के नाम का महत्त्व लक्षित होता है। कुछ दोहों को छोड़कर इसके शेष दोहों में भी रामचरित के

ग्रन्थ परिचय

विकास का क्रम देखा जाता है। *विनय-पत्रिका*, *वैराग्य-सन्दीपिनी* और *दोहावली* में कवि के आन्तरिक उद्गार, सिद्धान्त और अनुभव एकत्र हैं। वे परस्पर असम्बद्ध होते हुए भी एक ही विचार-सूत्र में गुँथे हैं। फिर भी उन्हें मुक्तक रचना ही मानना उचित है। आगे हम सुभीते के विचार से इन ग्रन्थों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

रामचरित-मानस

प्रवन्ध-सौष्ठव, कवित्व और प्रभाव सभी के विचार से कवि की कृतियों में *रामचरितमानस* सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसमें सात सोपान हैं। कवि के दिये हुए इस नाम को वदलकर कुछ लोग इसे *रामायण* कहने लगे हैं और इसके सोपानों को 'काण्ड'। इस प्रकार सात सोपान क्रमशः वाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लङ्का और उत्तर काण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक सोपान के प्रारम्भ में कुछ मङ्गलाचरणात्मक श्लोक संस्कृत में हैं।

कथानक

प्रथम सोपान में पहले संस्कृत में वाणी-विनायक, भवानी-शङ्कर, गुरु, कवीश्वर-कपीश्वर, सीता और राम की वन्दना है। फिर भाषा में गणेश, दयालु, विष्णु, शिव और गुरु की स्तुति है। तदनन्तर महीसुर, सुजन-समाज, सन्त और असन्त से विनती की गयी है। अपनी दीनता और कवि-कर्म की दुरूहता कहकर गोस्वामीजी ने रामचरित का वर्णन करनेवाले कवियों, अवध, सरयू, पुर-नर-नारी, कौशल्या, रानियों के सहित दशरथ, परिजन-सहित विदेह, भरत, सौमित्रि, रिपुसूदन, महावीर हनुमान, कपिपति, भालुपति, निशाचरपति, अङ्गदादि कीश, रघुपति-चरणों के उपासक सभी खग, मृग, सुर, नर, असुर की चरण-वन्दना की। फिर शुक, सनकादि और नारद की कृपा की आकांक्षा की। अन्त में जगज्जननी जानकी और रघुनायक के चरण-कमलों की विनती की। राम-नाम का गुण और महत्त्व वतलाया। नाम को राम से वड़ा सिद्ध किया। तव राम-कथा की परम्परा का उल्लेख किया। वतलाया कि जो कथा शम्भु ने उमा और कागभुशुण्डि को, भुशुण्डि

प्रथम सोपान

ने याज्ञवल्क्य को और उन्होंने भरद्वाज को सुनायी थी और जिसे मैंने बार-बार अपने गुरु से सुना था वही मैं अपने मन के प्रबोध के लिए, अपनी बुद्धि और अपने विवेक के बल पर, हरि की प्रेरणा से कहूँगा। राम के गुण-ग्राम की महिमा के उल्लेख के पश्चात् उन्होंने कहा कि कल्पभेद से कथा-भेद देखकर इसमें संशय न करना चाहिये। फिर ग्रन्थ का रचना-काल—नौमी, भौमवार, मधुमास, संवत् १६३१—बतलाकर अवधपुरी में उसके प्रकट होने की सूचना दी। तदनन्तर ग्रन्थ के नाम का कारण बतलाया और उसकी सार्थकता सिद्ध करने के लिए साङ्ग रूपक का पूरा निर्वाह करते हुए मानस का विशद निरूपण किया और उस मानस से निकलने वाली कवितारूपी सरयू का सावयव रूपक अङ्कित किया। उसमें मानसिक अवगाहन करके शिव-पार्वती का स्मरण करते हुए कथा प्रारम्भ की।

अब उस लोकहितकारी कथा के प्रारम्भ होने का उपक्रम होता है जिसके लिए कवि ने इतनी विशद प्रस्तावना की है। माघ में मकर-स्नान के पश्चात् प्रयाग से याज्ञवल्क्य ऋषि विदा होने को थे। भरद्वाज ने उन्हें रोक लिया। पूछा, "राम कौन हैं? अवधेशकुमार ही वे राम हैं, जिनकी महिमा सन्त, पुराण, उपनिषद् आदि गाते हैं अथवा कोई दूसरे? क्या उन्हीं को त्रिपुरारि जपा करते हैं? इस मर्म को समझाकर मेरा भ्रम दूर कीजिये।" ऋषि याज्ञल्क्य ने सती के मोह, दक्ष के यज्ञ में उनके शरीर त्याग, फिर पार्वती के रूप में अवतार तथा पार्वती और शिव के विवाह का वर्णन किया। तदनन्तर बतलाया कि कैसे पार्वती ने शम्भु से अपने अज्ञान, भ्रम और मोह को दूर करने और पूरी राम-कथा सुनाने का अनुरोध किया। शिव ने जो कथा सुनायी अब उसका सङ्क्षेप में उल्लेख किया जायगा :—

उन्होंने पहले अवतार का सामान्य प्रयोजन बतलाया, फिर कुछ विशेष प्रयोजन भी बतलाये। विप्र-शाप से जय-विजय, हिरण्याक्ष

और हिरण्यकश्यप हुए। उन्होंने वाराह तथा नृसिंह अवतारों के हाथ प्राण त्यागे। फिर दूसरे जन्म में वही कुम्भकर्ण और रावण हुए। उन्हें मारने के लिए राम का अवतार हुआ। एक कल्प में कश्यप और अदिति ने तप किया। वे दशरथ और कौशल्या हुए। उनके यहाँ अवतार लेकर राम ने उन्हें पिता-माता बनाया। एक कल्प में हरि ने जलन्धर का वध करने के लिए उसकी पत्नी सती वृन्दा के साथ छल किया। उसके शाप से उन्हें अवतार लेना पड़ा। जलन्धर ही रावण हुआ। उसे राम ने परम गति दी। एक कल्प में नारद ने विश्वमोहिनी का वरण करना चाहा। हरि ने ऐसा न करने दिया। उनके शाप से उन्हें अवतार लेना पड़ा। किसी कल्प में मनु और शतरूपा ने घोर तप किया। कृतज्ञ कृपालु ने प्रकट होकर उनको वरदान दिया कि मैं नर-वेश धारण कर तुम्हारे इच्छानुसार तुम्हारा पुत्र होऊँगा, अपने अंशों के सहित अवतार लेकर नर-चरित्र करूँगा। फिर याज्ञवल्क्य ने कैकय देश के परम प्रतापी और धर्मात्मा प्रतापभानु की कथा सुनायी और बतलाया कि किस प्रकार विप्रशाप से वह अपने कुटुम्ब के सहित निशाचर हुआ। प्रतापभानु रावण हुआ। उसके दश शिर और बीस भुजाएँ थीं। प्रतापभानु का अनुज अरिमर्दन दूसरे जन्म में रावण का अनुज कुम्भकर्ण हुआ और उसका मन्त्री धरमरुचि रावण का सौतेला भाई विभीषण हुआ। प्रतापभानु के सभी पुत्र, सेवक आदि भी राक्षस हुए। वे बड़े निर्दय, पापी और लोक-परितापी थे। रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण ने उग्र तप किया। जगदीश और ब्रह्मा प्रकट हुए। रावण ने वर माँगा कि मैं वानर और मनुष्य छोड़ किसी और के हाथ से मारा न जाऊँ, कुम्भकर्ण ने माँगा कि मैं छः महीने सोया करूँ और विभीषण ने भगवन्त के चरणों के प्रति अनुराग की याचना की। रावण ने मय की पुत्री मन्दोदरी से विवाह किया। समुद्र के बीच त्रिकूट पर्वत पर बसी लङ्का को अपनी

राजधानी बनाया। वहाँ उसका परिवार बढ़ने लगा। उसका पुत्र मेघनाद इन्द्र-विजेता हुआ। अन्य वीर भी जगद्विजयी थे। रावण के सामने देवता न ठहर सके। उनको परास्त करने के लिए उसने राक्षसों को आज्ञा दी कि संसार से ब्राह्मण-भोजन, यज्ञ और श्राद्ध मिटा दो। चारों ओर राक्षस फैल गये। सारी सृष्टि पर रावण का आतङ्क छा गया। उसने देव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, नर, नाग सभी को जीत लिया। उनकी बहुत सी सुन्दरी स्त्रियों का वरण किया। राक्षसों ने धर्म निर्मूल करने की ठानी। गो-ब्राह्मण नष्ट कर दिये। सदाचार का दर्शन दुर्लभ कर दिया। देव, गुरु, विप्र को अमान्य बना दिया। हरि-भक्ति, यज्ञ, तप, दान, वेद, पुराण को मिटा दिया। संसार आचार-भ्रष्ट हो गया।

पृथ्वी के लिए यह असह्य हो गया। वह गो-रूप में देवताओं के सामने उपस्थित हुई। सब देवता, मुनि, गन्धर्व मिलकर विरञ्चि के सामने पहुँचे। सब विचार करने लगे कि कहाँ चलकर प्रभु को यह विपत्ति सुनायें। शिव के परामर्श से सबने मिलकर आर्त्त हो प्रार्थना की। तब आकाशवाणी हुई—"तुम डरो मत। मैं तुम्हारे लिए नर-वेश धारण करूँगा। अपने अंशों के सहित सूर्य वंश में प्रकट होऊँगा। दशरथ-कौशल्या के घर अवतार लूँगा। नारद का शाप पूरा होगा। मैं पृथ्वी का भार उतारूँगा।" पृथ्वी को ढारस बँधाकर देवता अपने-अपने लोक चले गये। फिर वे वानररूप धरकर वन में हरि के आगमन की बाट देखने लगे।

इधर अयोध्या में कश्यप और अदिति दशरथ और कौशल्या के रूप में अवतीर्ण हुए। वृद्ध होने पर पुत्र के अभाव से दशरथ को ग्लानि हुई। उन्होंने गुरु वसिष्ठ के परामर्श से शृङ्गी ऋषि के द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया। अग्नि ने प्रकट होकर हवि दिया। राजा ने उसे अपनी तीन प्रधान रानियों में बाँट दिया। सब ने गर्भ धारण किया।

चैत का महीना आया। शुक्ल पक्ष, नवमी तिथि, अभिजित नक्षत्र, मध्याह्न। 'अखिल लोक विश्राम जगनिवास प्रभु' कौशल्या की गोद में प्रकट हुए। कैकेयी के भरत और सुमित्रा के लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न हुए। अयोध्यापुरी आनन्द-मग्न हो गयी। यथासमय राजकुमारों का नामकरण, चूडाकरण, उपनयन और विद्यारम्भ हुआ। कुछ समय के पश्चात् यज्ञ में निशाचरों के उत्पातों से ऊब कर विश्वामित्र दशरथ के पास आये। राजा ने वसिष्ट के समझाने-बुझाने पर राम-लक्ष्मण को ऋषि के साथ भेजना स्वीकार किया। विश्वामित्र ने उन्हें धनुर्वेद सिखाया। भूख-प्यास से मुक्त रहनेवाली विद्या सिखलायी। अस्त्र-शस्त्र प्रदान किये। फिर राम-लक्ष्मण के संरक्षण में निर्विघ्न यज्ञ को पूरा किया। यज्ञ-विरोधी ताडका और सुबाहु का वध हुआ और मारीच ने राम के बाण की चोट से व्याकुल हो समुद्र के पार जाकर अपने प्राण बचाये।

विश्वामित्र की प्रेरणा से राम-लक्ष्मण धनुष-यज्ञ देखने जनकपुर गये। राम ने अनायास धनुष तोड़ दिया। धनुष-भङ्ग की सूचना पाकर परशुराम वहाँ आये। लक्ष्मण ने उनकी खिल्ली उड़ायी, परन्तु उन्होंने राम की गम्भीरता, शिष्टता और शान्ति से प्रभावित होकर उनको अपना धनुष सौंपकर उनकी श्रेष्टता स्वीकार की। फिर अयोध्या से बारात लेकर दशरथ आये। सीता और राम का विधिवत् विवाह हुआ। अन्य तीनों कुमारों का भी वहीं विवाह हो गया। बहुत दिनों तक इसकी धूम रही। दशरथ अपने चारों कुमारों और उनकी वधुओं को लेकर अयोध्या लौटे। वहाँ बहुत दिनों तक आनन्द होता रहा।

शिव, राम की मुखश्री, सीता-सहित राम की संस्कृत में तथा गुरु के चरण-सरोज की भाषा में वन्दना करने के पश्चात् द्वितीय सोपान की कथा चलती है। इसके प्रारम्भ होते ही राम के अभिषेक की योजना के लिए सजी हुई अयोध्या दिखलायी पड़ती है। देवताओं

ने देखा कि जिस प्रयोजन से प्रभु का अवतार हुआ है उसमें बाधा उपस्थित हो रही है। उनकी प्रेरणा से सरस्वती ने कैकेयी की दासी मन्थरा की मति फेर दी। उसके उलटा-सीधा समझाने पर कैकेयी ने दशरथ को वचन-बद्ध करके राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास और उनके स्थान पर भरत के लिए युवराज का पद माँग लिया। अयोध्या में कुहराम मच गया। सीता और लक्ष्मण के साथ राम वन चले गये। सुमन्त्र उन्हें रथ पर बैठाकर सिंगरौर तक पहुँचाने गये। वहाँ से राम ने उन्हें किसी प्रकार लौटा दिया। वहाँ गुह ने उनका आतिथ्य-सत्कार किया। मार्ग में भरद्वाज और वाल्मीकि से मिलते और ग्रामवासियों को नेत्र-सुख देते हुए चित्रकूट पहुँचे। इधर राम के न लौटने की सूचना सुमन्त्र से पाकर दशरथ ने पुत्र-वियोग में प्राण त्याग दिये।

द्वितीय सोपान

तब भरत ननिहाल से बुलवाये गये। उन्होंने अयोध्या का सर्वनाश देखा। सबके बहुतेरा समझाने पर भी राज्य करना स्वीकार न किया। वे राम को अनुनय-विनय करके लौटा लाने के लिए चित्रकूट गये। वहाँ जनक भी पहुँचे। कई बार सभाएँ हुईं। सबने बहुत प्रयत्न किये, किन्तु राम अपने पिता को मिथ्याभाषी सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत न हुए। भरत ने उनकी पादुकाएँ लेकर उनके प्रतिनिधि के रूप में राज-काज सँभालने में ही लोक-हित समझा। वे लौटकर नन्दिग्राम में तपस्वी की भाँति, सभी सुखोपभोगों से निर्लिप्त और निरन्तर राम के स्मरण में मग्न रहते हुए भी राम-राज्य की देख-रेख का समुचित प्रबन्ध करने लगे।

इसके अनन्तर तीसरे सोपान की कथा के आरम्भ होने के पहले शङ्कर और राम की स्तुति से संस्कृत में मङ्गलाचरण हुआ और फिर शिव ने पार्वती से यों कहा—रामचन्द्रजी को चित्रकूट में रहते बहुत दिन हो गये। उन्होंने सोचा कि यहाँ तो मुझे सबने जान

लिया है। इससे मेरा वास्तविक रूप प्रकट हो जायगा। उसे छिपाने के उद्देश्य से उन्होंने अन्यत्र जाने का निश्चय किया।

तृतीय-सोपान

वे अत्रि ऋषि से विदा लेने पहुँचे। अनुसूया ने सीता के व्याज से नारि-धर्म बताया। ऋषि ने उनकी स्तुति की और फिर विदा दी। मार्ग में विराध का वध करते हुए राम शरभङ्ग के आश्रम गये। उन्होंने उनकी भक्ति का वरदान माँगते हुए योगाग्नि से शरीर त्यागा। पीछे-पीछे मुनियों का समूह और आगे-आगे राम वहाँ से आगे बढ़े। उन्होंने राक्षसों के खाये हुए मुनियों की अस्थियों का समूह देखा। प्रण किया कि मैं पृथ्वी को निशाचर-रहित करूँगा। फिर वे सुतीक्ष्ण की भक्ति को सफल करते हुए कुम्भज ऋषि के पास गये। उनके परामर्श से उन्होंने दण्डकारण्य में पर्णकुटी बनाकर निवास किया। वहाँ गिद्धराज जटायु से मिले। लक्ष्मण को भक्तियोग समझाया। दण्डकारण्य में कुछ दिनों के अनन्तर रावण की बहन शूर्पणखा उन्हें देखकर मोहित हो गयी। उसने अपनी आसक्ति प्रकट की। लक्ष्मण ने उसकी नाक काट कर उसे कुरूप कर दिया। वह खर-दूषण को बुला लायी। राम ने अकेले ही उनको चौदह सहस्र राक्षसी-सेना के सहित धराशायी कर दिया। रावण को यह समाचार मिला। उसने सोचा कि खर-दूषण तो मेरे समान बलवान हैं, उन्हें भगवान् ही मार सकते हैं। अब मैं उनसे हठपूर्वक वैर करूँगा और उनके हाथ से प्राणत्याग कर भव-सागर पार करूँगा। उसने मारीच की सहायता से सीता-हरण किया। जटायु ने सीता की रक्षा करनी चाही, परन्तु प्राण गँवाये। रावण ने सीता को अशोक-वन में रखा। मारीच-वध के पश्चात् लौटकर राम ने आश्रम को सूना पाया। वे लक्ष्मण को साथ ले सीता को ढूँढने निकले। मरणासन्न जटायु ने उन्हें सीता-हरण की सूचना दी। उसकी अन्त्येष्टि करके राम वहाँ से आगे चले। शबरी का आतिथ्य स्वीकार करते हुए उसके कहने से

सुग्रीव की खोज में पम्पा सरोवर पहुँचे। वहाँ नारदमुनि मिले। राम ने उनसे सन्तों का गुण और स्वभाव बतलाया।

चतुर्थ सोपान

यह सोपान संस्कृत में सीतान्वेषण में तत्पर राम की स्तुति और भाषा में काशी की महिमा कहने के पश्चात् राम के पम्पासर से चलकर ऋष्यमूक पर्वत पहुँचने की कथा से प्रारम्भ हुआ। वहाँ उनसे मारुति के द्वारा सुग्रीव की मित्रता हुई। फिर वालि और सुग्रीव की लड़ाई और वालि-वध के पश्चात् सुग्रीव का राजतिलक, राम का प्रवर्षण गिरि पर वर्षा-काल में निवास और शरदारम्भ में सीता की खोज के लिए हनुमान आदि का प्रस्थान एवं सम्पाति से सीता के अशोकवाटिका-निवास का वर्णन हुआ। अन्त में हनुमान का आवेश, और जाम्बवान के द्वारा उनका पराक्रम-कथन तथा पथ-प्रदर्शन हुआ।

पञ्चम सोपान

यह सोपान संस्कृत में रघुवर और हनुमान की वन्दना से प्रारम्भ हुआ। इसमें हनुमान के पुरुषार्थ का प्रदर्शन है। उन्होंने मैनाक के आश्रय की आवश्यकता न समझी, सुरसा का आशीर्वाद प्राप्त किया, सिंहिका का वध किया और लङ्का में प्रवेश करके सीता का अन्वेषण किया। विभीषण से भेंट की। फिर उनकी बतलाई हुई युक्ति से सीताजी के दर्शन किये। पेड़ के ऊपर से वे कुछ समय तक वियोगिनी सीता को देखते रहे। इतने में रावण ने आकर सीता को फुसलाने की बहुत चेष्टा की। उन्होंने उसे फटकार दिया। तब उसने धमकाया कि महीना भर में मुझे वरण करो, नहीं तो प्राणों से हाथ धोने पड़ेंगे। सीता को राक्षसियाँ सताने लगीं। वे व्याकुल हुईं। त्रिजटा ने अपने स्वप्न की चर्चा करके उन्हें धीरज बँधाया। सीता ने अशोक वृक्ष से आग माँगी। इतने में हनुमान ने राम-नामाङ्कित मुँदरी फेंकी। फिर उनके सामने प्रकट होकर उन्हें राम का सन्देश सुनाकर सन्तोष दिया। वन

उजाड़ा, अक्षय-कुमार को मारा और स्वेच्छा से वन्दी होकर रावण की सभा में प्रवेश किया। उसे समझाया। रावण ने उनके वध की आज्ञा दी। उनकी पूँछ पर कपड़े लपेटे गये। ऊपर से तेल डाला गया। फिर आग लगा दी गयी। लङ्का-दहन हुआ। फिर सीताजी से चूडामणि लेकर हनुमान ने उनका समाचार राम को सुनाया। सेना लेकर राम समुद्र-तट पर पहुँचे। उधर रावण से अपमानित हो विभीषण राम की शरण आया। उसके पीछे-पीछे रावण के गुप्तचर आये। वे पकड़ लिये गये। लक्ष्मण ने उनके द्वारा रावण के पास सन्देश भेजा। रावण ने उन्हें मार भगाया। इधर समुद्र ने राम के भय से घबराकर अपने सन्तरण का उपाय बतलाया।

षष्ठ सोपान

मङ्गलाचरण में राम और शिव की संस्कृत में तथा राम की भाषा में वन्दना के पश्चात् कथा का प्रारम्भ हुआ। समुद्र पर सेतु बँधा। उस पर चढ़कर सेना ने सागर पार किया। यह समाचार सुनकर रावण दहल गया। मन्दोदरी और प्रहस्त ने उसे समझाया। उसने उनकी बातों पर कान न दिया। वह जाकर नाचरङ्ग में मग्न हो गया। उधर राम ने सुवेल-शिखर पर शिविर स्थापित किया। उन्होंने रङ्गशाला में बैठे रावण के छत्र-मुकुट और मन्दोदरी के ताटङ्क अपने बाण से गिरा दिये। इस पर वहाँ सबको आश्चर्य हुआ। फिर अङ्गद राम का दूत बनकर रावण की सभा में गया। उसने रावण को बहुत फटकारा। रावण का मानमर्दन किया। उसके चले आने पर मन्दोदरी ने रावण को फिर समझाया। रावण ने उसकी एक न सुनी।

इधर अङ्गद ने आकर लङ्कागढ के सब समाचार श्रीराम को सुनाये। राम ने वानर-भालु सेना को यथायोग्य सेनापतियों के अधीन चार अनियों में विभाजित किया। उन्होंने लङ्का पर चारों ओर से आक्रमण किया। बड़े-बड़े योद्धाओं का संहार किया। निशाचरी सेना

के पाँव उखड़ गये। वह भाग खड़ी हुई। इस पहले आक्रमण में ही आधी सेना काम आयी। इससे रावण की सभा घबरा गयी। फिर दूसरे दिन मेघनाद और लक्ष्मण का भीषण युद्ध हुआ। वीरघातिनी साँगी लगने से लक्ष्मण मूर्च्छित हो गये। इस पर राम विचलित हो गये। वे प्रलाप करने लगे। हनुमान ने रात बीतने के पहले ही सञ्जीवनी लाकर सुषेण वैद्य से लक्ष्मण का उपचार कराया। वे उठ बैठे। अगले दिन राम ने कुम्भकर्ण का वध किया। फिर लक्ष्मण ने मेघनाद का अन्त किया। तत्पश्चात् कई दिनों तक राम-रावण का लोमहर्षण सङ्ग्राम हुआ। अन्त में राम की विजय हुई। सीता आकर राम से मिलीं। उनकी अग्नि-परीक्षा हुई। तदनन्तर ब्रह्मा, दशरथ और इन्द्र ने विजेता राम की स्तुति की। इन्द्र की सुधावृष्टि से युद्ध में मरे हुए वानर-भालु जी उठे। फिर शिव ने आकर राम की प्रार्थना की। विभीषण का राज-तिलक हुआ। उसके द्वारा प्रदत्त पुष्पक विमान पर चढ़कर राम चुने हुए सहचरों और लक्ष्मण तथा सीता के साथ अयोध्या के लिए चल पड़े। प्रयाग पहुँचकर उन्होंने हनुमान को भरत के पास अपने आगमन की सूचना देने भेजा।

सप्तम सोपान

संस्कृत में राम और शिव की वन्दना के अनन्तर इस सोपान की कथा आरम्भ हुई। राम की प्रतीक्षा में चिन्ता-मग्न भरत को हनुमान ने प्रभु के आने की सूचना दी। पलक मारते-मारते यह प्रिय समाचार नगर भर में फैल गया। सारी अयोध्या उमड़ आयी। पुष्पक से उतरकर राम सब से मिले। फिर उनका अभिषेक हुआ। उस समय ब्रह्मादि देवता आये। उन्होंने तथा वन्दी-वेशधारी वेदों ने, और अन्त में शिव ने स्तुति की। कुछ दिनों के पश्चात् राम ने सब सखाओं को विदा किया। सेवा के लिए हनुमान रुक गये। अयोध्या में राम-राज्य स्थापित हुआ। प्रजा सुखी हुई। पृथ्वी धन-धान्य से भर गयी। बीच-बीच में नारद, सनकादि आते और लौटकर

प्रभु के चरित ब्रह्मलोक में सुनाया करते। राम ने पुरवासियों से अपने सिद्धान्त और आदर्श बतलाये। अन्त में एक दिन शीतल अमराई में जाकर विश्राम किया। वहाँ नारद आये। उन्होंने स्तुति की। फिर शोभा-सिन्धु को हृदय में रखकर वहाँ से प्रस्थान किया।

रामचरित का वर्णन यहीं तक चला। आगे उमा के पूछने पर शिव ने भुशुण्डि के द्वारा गरुड को *रामचरितमानस* सुनाने का वर्णन किया। भुशुण्डि ने अपने पूर्व-जन्मों की कथा सुनायी। उसी के प्रसङ्ग में कलिधर्म का निरूपण किया। भक्ति और ज्ञान का अन्तर बतलाते हुए दोनों में समन्वय किया। तदनन्तर कथा के कागभुशुण्डि-गरुड, उमा-शम्भु और भरद्वाज-याज्ञवल्क्य इन तीनों संवादों का उपसंहार हुआ। गरुड ने भुशुण्डि से और पार्वती ने शिव से राम के सम्बन्ध में अपने सन्देह और भ्रम के दूर होने और कृतकृत्य होने की स्वीकृत दी। अन्त में कवि ने अपने मानसिक विश्राम का उल्लेख करते हुए राम से अज्ञान-शान्ति की याचना की और संस्कृत के दो श्लोकों में *रामचरितमानस* में भक्तिपूर्वक अवगाहन करने का फल कहा।

इस प्रकार इस विशाल और युगप्रवर्त्तनकारी ग्रन्थ की समाप्ति हुई।

कथा के आधार

वर्ण्य विषय के विचार से प्रबन्ध-काव्य दो प्रकार के होते हैं। कुछ काव्यों में प्राचीन ऐतिहासिक वा पौराणिक कथानक को अपना लिया जाता है। उनका आख्यान पहले से प्रसिद्ध तथा प्रचलित होता है। उसे ही कवि ज्यों का त्यों अथवा स्वेच्छा के अनुसार कहीं कुछ बदलकर अपने ढङ्ग से प्रस्तुत करता है। इन परिवर्तनों के होते हुए भी कथा का मूल रूप उसे बना-बनाया मिल जाता है। दूसरे प्रकार के काव्यों का भवन किसी पुरानी अथवा नयी वास्तविक घटना वा आख्यायिका की नींव पर नहीं बनाया जाता। वह कवि की कल्पना से

प्रसूत होता है। उसकी कथावस्तु का निर्माण स्वयं कवि करता है।

गोस्वामीजी का *रामचरितमानस* पहले प्रकार का काव्य है। उसका कथानक अत्यन्त प्राचीन है। वह सच्चा है। पुराणों में उसका वर्णन है। आदि कवि के अतिरिक्त अगणित कवियों ने उसे संस्कृत के काव्यों, नाटकों आदि में विस्तारपूर्वक लिखा है। प्राकृत में भी उसका वर्णन मिलता है। वह इस देश की वर्तमान सीमा को लाँघकर आज विदेश समझे जाने वाले, किन्तु पुराने बृहत्तर भारत भर में व्याप्त था। मलय, सुमात्रा, जावा, वाली, कम्बोडिया आदि के लोक-नाट्यों तक में वह आज भी सुरक्षित है। उसी पुरातन राम-कथा को लेकर तुलसीदास ने *रामचरितमानस* की रचना की। उन्होंने उसके प्रथम सोपान में ही मङ्गलाचरण के पश्चात् लिखा है कि—

नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि,
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषा-निबन्ध-मति-मञ्जुलमातनोति ।

इस प्रकार अपने अन्तःकरण के सुख के लिए तुलसीदासजी ने अपनी मति के अनुसार भाषा में रामायण की रचना की। वह नाना पुराण, वेद, आगम सम्मत है। साथ ही उसमें कुछ अन्यत्र से उपलब्ध सामग्री भी है। प्रसिद्ध है कि व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्। व्यास पुराणों, महाभारत आदि में जो कुछ कह गये हैं उसके बाहर से कोई क्या कहेगा? परन्तु 'क्वचिदन्यतोपि' को निरर्थक नहीं कहा जा सकता। इसका तात्पर्य यह लिया जाता है कि *मानस* में वेदों, पुराणों और आगमों के अतिरिक्त इतिहास, काव्य, चम्पू, नाटक आदि में वर्णित आख्यान का उपयोग किया गया है। इनके साथ ही उसमें कवि की अनुभूति, साधना और कल्पना का भी पुट है। गोस्वामीजी उक्त आधार भूत ग्रन्थों को दो प्रकार से काम में लाये हैं। *मानस* में प्रधान रूप से

राम-कथा ही गायी गयी है, फिर भी उसकी कई आनुषङ्गिक कथाएँ भी हैं। ये सब उपर्युक्त ग्रन्थों से ही ली गयी हैं। इनका मूल उनमें कहीं न कहीं मिल जाता है। इन कथाओं के साथ ही कवि ने यत्र-तत्र अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से बहुत सी उक्तियाँ भी ग्रहण की हैं। कभी उन्होंने उनका भाषा में रूपान्तर मात्र कर दिया है और कभी कुछ परिवर्तन करके उनमें चार चाँद लगा दिये हैं—उन्हें मूल की अपेक्षा कहीं सुन्दर बना दिया है।

मानस की मूल कथा के उद्गम की खोज में निकलकर उसका पूरा ब्योरा देने के लिए यहाँ स्थान की कमी बाधक हो रही है। उसे फिर कभी प्रस्तुत किया जायगा। अभी इतना जान लेना चाहिये कि उसमें मुख्यतया आदि कवि वाल्मीकि की *रामायण* में वर्णित आख्यान मिलता है। यद्यपि मानस में कहीं-कहीं *वाल्मीकि रामायण* की कथा और उसके वर्णन के क्रम से भेद है फिर भी उसके मूल आख्यान में उससे कोई अन्तर नहीं है। कथा-वस्तु में कोई विशेष मौलिक अन्तर न होते हुए भी दोनों ग्रन्थों के प्रतिपादित विषय का भेद ध्यान में रखना चाहिए। *वाल्मीकी रामायण* में भी अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें रामचन्द्र को विष्णु का अवतार कहा गया है। उदाहरणार्थ, बालकाण्ड में ही वर्णन आया है कि ब्रह्मा आदि देवताओं ने विष्णु को लोक-कल्याण के लिए नियुक्त किया और उनसे अनुरोध किया कि आप अपने चार भाग करके दशरथ की तीन रानियों के पुत्र बनें और 'मानुषं रूपमास्थाय रावणं जहि संजुगे' अर्थात् मनुष्य रूप धर कर रावण को मारें। तब देवताओं ने उन्हें रावण को ब्रह्मा के दिये हुए वरदान की कथा सुनायी। फिर—

> इत्येतद्वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान्।
> पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम्॥
>
> १६—१८

अर्थात् देवताओं की बात सुनकर स्वेच्छानुसार जन्म धारण करने की शक्ति रखने वाले विष्णु ने दशरथ को अपना पिता बनाने का निश्चय किया। इसके फल स्वरूप

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्भगवानिदं ॥

१७—१

जब सीता की अग्नि-परीक्षा के समय इन्द्रादि देवता राम के पास आये तब उन्होंने उनको 'कर्ता सर्वस्य लोकस्य' कहकर सम्बोधित किया और ब्रह्मा ने उनका यों परिचय दिया—

भगवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित् ॥
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः।
अजितः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः।

लङ्का०—११७। १४—१५।

अर्थात् आप चक्रधारी नारायणदेव, एकदन्त वाराह और भूत एवं भावी देव-शत्रुओं के विजेता हैं। आप अविनाशी, सत्य ब्रह्म हैं। आप सृष्टि के मध्य और अन्त में वर्तमान रहते हैं। लोकों के परम धर्म हैं। विष्वक्सेन हैं। चतुर्भुज हैं। शार्ङ्ग धनुष लेने वाले, हृषीकेश पुरुष, पुरुषोत्तम, अजित खड्गधारी विष्णु और अत्यन्त अधिक बलवा कृष्ण आप ही हैं।

इसी अवसर पर दशरथ ने भी कहा था कि

इदानीं च विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः।
वधार्थं रावणस्येह विहितं पुरुषोत्तमम् ॥

वही—११९।

अर्थात् हे सौम्य, आज मुझे देवताओं के द्वारा ज्ञात हुआ कि विष्णु ने रावण के वध के लिए तुम्हारे रूप में छिपकर अवतार लिया है।

इसी प्रकार युद्ध काण्ड के अन्तिम सर्ग में भी कहा गया है कि

प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः।
आदिदेवो महाबाहुर्हरिर्नारायणः प्रभुः॥

वही—१२८। ११७।

अर्थात् (इसके पठन और श्रवण से) रामचन्द्र प्रसन्न होते हैं, जो सनातन विष्णु, आदि देव, हरि और नारायण हैं।

फिर भी कुछ विद्वानों का मत है कि वाल्मीकि ने वैदिक युग के आदर्श पुरुष का ही चरित लिखा है। उन्होंने महान मानव-गुणों को सुन चुकने पर नारद मुनि से पूछा था कि इस समय इन सब से युक्त कौन सा पुरुष है। त्रिकालदर्शी नारद ने इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न राम को ही उन सब गुणों का आकर बतलाया और सङ्क्षेप में उनका चरित्र सुनाया था। आर्यों के गुण, कर्म और आदर्श का परमोत्कृष्ट रूप राम में पाकर ऋषि ने उनका चरित्र चित्रित किया। इससे उनकी रामायण में राम की ईश्वरता के नहीं, पूर्ण मानवता के दर्शन होते हैं। बात यह है कि वाल्मीकि के सामने राम की ईश्वरता के प्रदर्शन की समस्या न थी। इसी से उन्होंने यत्र-तत्र इतना तो सूचित कर दिया कि राम विष्णु के अवतार थे, किन्तु इसे बार-बार दोहराया नहीं। परन्तु तुलसीदास के समय में तो स्थिति ही दूसरी थी। उनके समय में परिस्थिति-वश राम के ईश्वर होने में सन्देह उत्पन्न हो चुका था। निर्गुणवादियों ने सामान्य जन-समुदाय को भ्रम में डाल दिया था कि दाशरथि राम ईश्वर नहीं। ईश्वर तो निराकार ही होता है। इसी से तुलसी ने परात्पर ब्रह्म राम की नर-लीलाओं का वर्णन किया और मानस में उनकी भक्ति का प्रतिपादन किया

है। उन्हें इस प्रकार की राम-भक्ति की प्रतिष्ठा करने की प्रेरणा *अध्यात्म रामायण* से मिली। उसमें प्रतिष्ठित राम-भक्ति को लोक में स्थापित करना ही उनके *मानस* का लक्ष्य हुआ।

अतएव जहाँ नर-श्रेष्ठ राम की कथा कहना वाल्मीकि का उद्देश्य था, वहाँ तुलसी का उद्देश्य हुआ उनके ईश्वरत्व का प्रतिपादन। इसी से उन्होंने लोक-व्याप्त भ्रम के निराकरण के लिए मानस में उन सभी स्थलों पर राम के ईश्वरत्व का स्पष्ट रूप से उल्लेख करना आवश्यक समझा था जहाँ श्रोता को राम का नर-चरित्र मोह वा भ्रम में डाल सकता था। कथा के प्रवाह में रुकावट डालकर भी गोस्वामीजी ने इस बात को बार-बार कहना ही श्रेयकर समझा है।

अतः *रामचरितमानस* के कथानक और उसके अभीष्ट उद्देश्य के सम्बन्ध में इन बातों को न भूलना चाहिये। उसकी कथा में यत्र-तत्र कुछ ऐसे वर्णन मिलते हैं जो उक्त दोनों रामायणों में भी नहीं मिलते। उनकी प्रेरणा *हनुमन्नाटक*, *प्रसन्नराघव* आदि से ग्रहण की गयी है। पुष्प-वाटिका में राम और जानकी का साक्षात्कार ऐसे मनोरम स्थलों में मुख्य है। इसके साथ ही कुछ मार्मिक प्रसङ्ग तो स्वयं कवि की उद्भावना हैं। जब जनकपुर में राम-लक्ष्मण नगर-दर्शन के लिए गये थे तब उनकी अनुपम शोभा को देखकर नारियों का परस्पर वार्तालाप हुआ था। इसी प्रकार जब वन-पथ में ग्रामीण नारियों ने उन्हें देखा तब उनके उद्गार भी बहुत विस्तार के साथ वर्णित हुए हैं। ये हृदयग्राही प्रसङ्ग कवि की देन हैं। इसी प्रकार *मानस* के प्रथम सोपान के आरम्भ की विस्तृत वन्दना, उसके मानस और सरयू के साङ्ग रूपक भी कवि की सृष्टि हैं। गोस्वामीजी ने विविध संवादों की अवतारणा करके जिस कथा-प्रबन्ध का निर्माण किया है वह भी उन्हें किसी दूसरे कवि से नहीं सूझा। अन्तिम सोपान के उत्तरार्द्ध का राम-भक्ति का प्रतिपादन भी उनकी ही सूझ है। ऐसे ही और भी अनेक

प्रकरण हैं जिनका कथानक किसी अन्य रामायण काव्य आदि में उस क्रम और ढङ्ग से नहीं मिलता जो *मानस* में देखा जाता है। *मानस* के आख्यान का मूलरूप—उसमें व्यक्त किये गये सिद्धान्त, विचार आदि गोस्वामीजी की नयी उद्भावना नहीं हैं, वस्तुतः सनातन सत्यों के पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए ही तो *मानस* की अवतारणा हुई है। परन्तु इनकी अभिव्यक्ति उन्होंने *मानस* में अपने ढङ्ग से की है। इस प्रकार *मानस* की मूल कथा तथा आनुषङ्गिक कथाओं को गोस्वामीजी ने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से ग्रहण किया है। इसी लिए उन्होंने उन सब मुनियों और कवियों को प्रणाम भी किया है जिनके द्वारा उन्हें रामचरित की परम्परा का परिचय प्राप्त हुआ था। वे कहते हैं—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई, तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई।
व्यास आदि कवि पुङ्गव नाना, जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।
चरन कमल बन्दउँ तिन्ह केरे, पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे।
कलि के कविन्ह करउँ परनामा, जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा।
जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषाँ जिन्ह हरि चरित बखाने।
भये जे अहहिं जे होइहहिं आगे, प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे।

अतएव रिक्थ रूप में प्राप्त कथा की धारा को अविच्छिन्न रखते हुए भी कवि ने उसे अपने रङ्ग में रँग कर मौलिक प्रबन्ध बना दिया।

गोस्वामीजी ने कथानक के अतिरिक्त अनेक वर्णनों और उक्तियों को भी पुराने ग्रन्थों से तद्वत् या थोड़े बहुत हेर-फेर और सुधार के साथ ग्रहण किया है—कुछ तो राम-चरित सम्बन्धी काव्यों, नाटकों आदि से और कुछ पुराणों तथा अन्य काव्यों, नाटकों आदि से। थोड़े से उदाहरणों से यहाँ उनके अध्ययन के प्रसार का सङ्केत किया जायगा।

मानस में शिव ने पार्वती से भगवान का यह रूप बतलाया है—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना, कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी।

तन बिनु परस नयन बिनु देखा, ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ॥

यह श्वेताश्वतर उपनिषद् के इस अवतरण का भाषान्तर है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

यो वेत्ति सर्वं नहि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्।

नारदोपनिषद् में कलियुग में केशव के सङ्कीर्तन का फल यों लिखा है—

ध्यायन्कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।

यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

इसको गोस्वामीजी ने इस रूप में अपनाया है—

कृत युग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।

जो गति होइ सो कलि हरि, नाम ते पावहिं लोग ॥

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भगवदवतार का प्रयोजन बतलाया है कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

यही बात शिवजी पार्वती से 'हरि अवतार' होने का हेतु बतलाते हुए यों कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी, बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।

करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी, सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।

तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।

असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु।

जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जन्म कर हेतु ॥

गीता के अन्य अनेक श्लोकों को गोस्वामीजी ने भाषा का बाना धारण कराया है। उनमें कुछ आगे उद्धृत किये जाते हैं।

उसमें आत्मा के अमरत्व का प्रतिपादक प्रसिद्ध श्लोक है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

मानस में यह सिद्धान्त इस रूप में व्यक्त हुआ है—

जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि, अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरि कै, नर परिहरै पुरान॥

इसी प्रकार *गीता* के

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।

को गोस्वामीजी ने कुछ बदलकर यों कहा है—

सम्भावित कहुँ अपजस लाहू, मरन कोटि सम दारुन दाहू।

श्रीमद्भागवत् की यह उक्ति भी इसकी प्रेरक हो सकती है—

सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो यदासस्त्रौ मरणाय कल्पते।

... ...

सन्त का यह रूप गोस्वामीजी को बहुत प्रिय है—

विषय अलम्पट सील गुनाकर, पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।
सम अभूत रिपु बिमद बिरागी, लोभामरष हरष भय त्यागी।
कोमल चित दीनन पर दाया, मन क्रम वच मम भगति अमाया।
सबहिं मान प्रद आपु अमानी, भरत प्रान सम मम ते प्रानी।
बिगत काम मम नाम परायन, सान्ति बिरति बिनती मुदितायन।
सीतलता सरलता मयत्री, द्विज पद प्रीति धरम जनयित्री।
ये सब लच्छन बसहिं जासु उर, जानेहु तात सन्त सन्तत फुर।
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं, परुष वचन कबहूँ नहिं बोलहिं।
निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पदकञ्ज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुन मन्दिर सुख पुञ्ज॥

राम के 'प्रान प्रिय' सज्जनों के इन लक्षणों को *गीता* के नीचे लिखे श्लोकों में कहे गये कृष्ण के प्रिय भक्तों के गुणों से मिलाइये और

देखिये दोनों एक ही हैं न—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः॥
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

अब *श्रीमद्भागवत्* के कुछ भावों से साम्य देखिये।

ब्रह्मा के द्वारा की गयी गर्भ-स्तुति का प्रसिद्ध श्लोक है—

येऽन्येऽरविन्दाक्षविमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः॥
त्वयाभिगुप्ताः विचरन्ति निर्भयाः विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

१०।२।३२–३३

इसे वेद-कृत स्तुति के रूप में मानस में यों देखिये—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भवनाथ सो समरामहे॥

भव-सागर तरने का उपाय *श्रीमद्भागवत्* (११।२०।१७) में यह बतलाया गया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥

यही मानस में भी कहा गया है—

नर तनु भव वारिधि कहुँ बेरो, सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।
करनधार सद्गुर दृढ़ नावा, दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।
जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाइ॥

व्यास ने मल्लशाला में जाते समय भगवान् श्रीकृष्ण की सर्व-व्यापकता दिखलायी है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः॥
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

इसी प्रकार जब श्रीराम धनुष-यज्ञ देखने पहुँचे तब उनका सर्वव्यापकत्व गोसाईंजी ने भी दिखाया है—

देखहिं रूप महा रनधीरा, मनहुँ बीर रसु धरें सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी, मनहुँ भयानक मूरति भारी।
रहे असुर छल छोनिप बेषा, तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा।
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई, नरभूषन लोचन सुखदाई।
नारि बिलोकहिं हरषि हियँ, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥
बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा, बहु मुख कर पग लोचन सीसा।
जनक जाति अवलोकहिं कैसें, सजन सगे प्रिय लागहिं जैसें।
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी, सिसु सम प्रीति न जाति बखानी।
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा, सान्त सुद्ध सम सहज प्रकासा।
हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता, इष्टदेव इव सब सुखदाता।
एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ, तेहिं तस देखेउ कोसलराऊ।

व्रज में गोपादिकों की यह इच्छा थी कि कर्मवश हम चाहे जिस

योनि में जन्म लें, उस देह में हम प्यारे व्रजमोहन को न भूलें—

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र कापीश्वरेच्छया ।

मङ्गलाचरितैर्दानैर्मतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥

यही गोस्वामीजी बालि से कहलाते हैं—

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ ।

जेहि जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ ॥

अब गोस्वामीजी कृत वर्षा के प्रसिद्ध वर्णन का मूल आधार *श्रीमद्भागवत्* के दशम स्कन्ध के बीसवें अध्याय में देखिये—

बरषा काल मेघ नभ छाये, गरजत लागत परम सुहाये ।

ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा ।

विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥ ३ ॥

लछिमन देखहु मोरगन, नाचत बारिद पेखि ।

गृही बिरति रत हरष जस बिष्णु भगत कहुँ देखि ॥

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः ।

गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥ २० ॥

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा ।

तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः ।

प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव ॥ ६ ॥

दामिनि दमक न रह घन माहीं, खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं ।

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः ।

स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥ १७ ॥

बरषहिं जलद भूमि नियराये, जथा नवहिं बुध बिद्या पाये ।

व्यमुञ्चन् वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योऽथामृतं घनाः ।

यथाऽऽशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः ॥ २४ ॥

बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के बचन सन्त सह जैसे ।

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।

अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोत्नजचेतसः ॥ १५ ॥

क्षुद्र नदीं भरि चलीं तोराई, जस थोरेहुँ धन खल इतराई ।

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।

पुंसो यथा स्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥ १० ॥

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई, होय अचल जिमि जिव हरि पाई ।

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान् ।

अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग्यथा ॥ १४ ॥

हरित भूमि तृन सङ्कुल, समुझि परहिं नहिं पन्थ ।

जिमि पाखण्ड बाद तें, गुत होहिं सद ग्रन्थ ॥

मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ।

नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥ १६ ॥

दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई, वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई ।

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ।

तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये ॥ ६ ॥

ससि सम्पन्न सोह महि कैसी, उपकारी कै सम्पति जैसी ।

तपःकृशा देवमीढा आसीद्वर्षीयसी मही ।

यथैव काम्यतपसस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम् ॥ ७ ॥

निसि तम घन खद्योत बिराजा, जनु दम्भिन्ह कर मिला समाजा ।

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः ।

यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ॥ ८ ॥

इसी प्रकार शरद्-वर्णन का सादृश्य भी देखने योग्य है—

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः ।

यथा त्यक्तैषणाः शान्ताः मुनयो मुक्तकिल्बिषाः ॥३५॥

गाधवारिचरास्तापमविन्दन् शरदर्कजम् ।

यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥३८॥

शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः ।

यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥३६॥

बिनु घन निर्मल सोह अकासा, हरिजन इव परिहरि सब आसा।
जल संकोच बिकल भइँ मीना, अबुध कुटुम्बी जिमि धनहीना।
रस रस सूख सरित सर पानी, ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी।

इन दोनों ग्रन्थों में कुछ और साम्य के स्थल हैं—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

१२।३।५१, ५२

कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि, नाम तें पावहिं लोग।

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी, करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।
त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं, प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।
द्वापर करि रघुपति पद पूजा, नर भव तरहिं उपाय न दूजा।
कलियुग केवल हरि गुनगाहा, गावत नर पावहिं भव थाहा।

विष्णुपुराण के इस श्लोक में भी यही बात कही गयी है—

ध्यायन्कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ श्रीनामकीर्तनात्॥

... ...

बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।

पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥

२।३।२०—२२

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना, श्रवन रन्ध्र अहि भवन समाना।
नयनन्हि सन्त दरस नहिं देखा, लोचन मोरपङ्ख सम लेखा।
ते सिर कटु तुम्बरि समतूला, जे न नमत हरि गुर पद मूला।
जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी, जीवत सव समान तेइ प्रानी।
जो नहिं करइ राम गुन गाना, जीह सो दादुर जीह समाना।

... ...

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥

२।३।२४

कुलिस कठोर निठुर सोई छाती, सुनि हरिचरित न जो हरखाती।

अब दूसरे ग्रन्थों के कुछ समता-सूचक अवतरण दिये जाते हैं—

मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं पूजयेत् सदा ॥
चतुर्विधास्ताः कथिता नार्यो देवि पतिव्रताः।
उत्तमादिविभेदेन स्मरतां पापहारिकाः ॥
स्वप्नेऽपि यन्मनो नित्यं स्वपतिं पश्यति ध्रुवम्।
नान्यं परपतिं भद्रे उत्तमा सा प्रकीर्तिता ॥
या पितृभ्रातृसुतवत् परं पश्यति सद्धिया।
मध्यमा सा हि कथिता शैलजे वै पतिव्रता ॥
बुद्ध्वा स्वधर्मं मनसा व्यभिचारं करोति न।
निकृष्टा कथिता सा हि सुचरित्रा च पार्वती ॥
पत्युः कुलस्य च भयाद् व्यभिचारं करोति न।
पतिव्रताऽधमा सा हि कथिता पूर्वसूरिभिः ॥
क्लीवं वा दुःखस्थं वा व्याधितं वृद्धमेव च।

सुखितं दुःखितं वापि पतिमेकन्न लङ्घयेत् ॥
—*शिवपुराण* । पर्वती खण्ड

मातु पिता भ्राता हितकारी, मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ।
अमित दानि भर्ता बैदेही, अधम सो नारि जो सेव न तेही ।
जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं, वेद पुरान सन्त सब कहहीं ।
उत्तम के अस बस मन माहीं, सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ।
मध्यम पर पति देखइ कैसें, भ्राता पिता पुत्र निज जैसें ।
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई, सो निकिष्ट तिय श्रुति अस कहई ।
बिनु अवसर भय तें रह जोई, जानेहु अधम नारि जग सोई ।
वृद्ध रोग बस जड धन हीना, अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना ।
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना ।

वाल्मीकीय रामायण में भी अनेक ऐसी उक्तियाँ हैं जिन्हें गोस्वामीजी ने अपनाया है। मारीच ने रावण से कहा था—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता भोक्ता च दुर्लभः ॥

अरण्य० । ३७ । २

मानस में यही बात प्रहस्त ने रावण से यों कही थी—

प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं, ऐसे नर निकाय जग अहहीं ।
बचन परम प्रिय सुनत कठोरे, सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे ।

मानस में सीता ने रावण से कहा था—

जिमि हरि बधुहि छुद्र सस चाहा ।

वाल्मीकि रामायण में सीता की उक्ति यह है—

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम् ।

अरण्य० । ४७ । ३७

सुग्रीव ने राम से कहा था कि मैं सीता का पता लगा दूँगा; परन्तु वह राज्य पाकर यह काम भूल गया। इस पर राम ने कुपित

हो कर कहा कि—

न स सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगा॥
एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम्॥

—किष्किन्धा० । ३० । ८१, ८२

मानस में राम की यह प्रतिज्ञा यों व्यक्त हुई है—

जेहि सायक मारा मैं बाली, तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली।

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम ने जो प्रलाप किया था उसके वर्णन में भी गोस्वामीजी ने वाल्मीकि के भाव लिये हैं। दो-एक स्थल देखिये। राम ने प्रलाप में कहा था कि—

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ, बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ।
मम हित लागि तजेउ पितु माता, सहेहु बिपिन हिम आतप बाता।
सो अनुराग कहाँ अब भाई, उठहु न सुनि मम बच बिकलाई।

वाल्मीकिजी ने इसे यों कहलाया है—

त्वं नित्यं सुविषण्णं मामाश्वासयसि लक्ष्मण।
गतासुर्नाद्य शक्तोऽसि मामार्तमभिभाषितुम्॥

युद्ध० । ४९ । १३

मानस में राम ने सहोदर को पत्नी आदि से अधिक महत्त्व देते हुए कहा था—

सुत बित नारि भवन परिवारा, होहि जाहि जग बारहिं बारा।
अस बिचारि जिय जागहु ताता, मिलै न जगत सहोदर भ्राता।

वाल्मीकीय रामायण में यह बात राम के द्वारा दो स्थलों पर इन रूपों में कही गयी है—

शक्या सीता समा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिकः॥ युद्ध० । ४९ । ६

और

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥

युद्ध० । १०१ । १४

मानस में राम ने लक्ष्मण के विना जीवित रहने से मर जाना श्रेयस्कर समझकर कहा था—

निज जननी के एक कुमारा, तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ।
सौंपेसि मोहि तुम्हहिं गहि पानी, सब बिधि सुखद परम हित जानी ।
उतरु काह दैहौं तेहि जाई, उठि किन मोहिं सिखावहु भाई ।

वाल्मीकिजी ने रामचन्द्रजी से इसी बात को यों कहलाया था—

किं नु राज्येन दुर्धर्ष लक्ष्मणेन विना मम ।
कथं वक्ष्याम्यहं त्वम्बां सुमित्रां पुत्रवत्सलाम् ॥

युद्ध० । १०१ । १५

इसी प्रकार और भी अनेक अवतरण गोस्वामीजी और वाल्मीकिजी की उक्तियों का सादृश्य दिखलाने के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं। स्थानाभाव से उनके उद्धरण का लोभ संवरण करना पड़ता है। अब कुछ अन्य प्राचीन कवियों के भावसाम्य के दो-एक उदाहरण भी देखिये। तुलसीदासजी की बहुत ही प्रसिद्ध उक्ति है—'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी।' यही बात नन्ददास ने भी *रासपञ्चाध्यायी* में इस रूप में कही है—'नैनन के नहिं बैन, बैन के नैन नहीं जब।' *देवी भागवत* में यही बात इस प्रकार कही गयी है—'या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति।' इसी प्रकार पाणिनि के प्रसिद्ध सूत्र 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' का उपयोग भी उन्होंने अपने ढङ्ग से किया है। पाणिनि ने इस सूत्र में बतलाया है श्वन्, युवन् और मघवन् शब्दों को सुबन्त में सम्प्रसारण होता है और उनके रूप सब विभक्तियों में एक-से होते हैं, परन्तु गोस्वामी जी ने इन तीनों में एक-से गुण का आरोप

कर दिया और कहा—'सरिस स्वान मघवान जुवान' अर्थात् कुत्ता, इन्द्र और युवक समान रूप से आचरण करते हैं।

सुवेल शैल पर शिविर स्थापित करने के पश्चात् श्रीराम ने सायंकाल चन्द्रोदय देखकर अपने साथियों से उसके कलङ्क का मर्म उद्‌घाटन करने को कहा था। इस सम्बन्ध की उक्तियाँ कुछ प्रचीन कवियों की रचनाओं से मिलती-जुलती देखी जाती हैं। यथा—

मारेहु राहु ससिहि कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥

इसमें *सुभाषितरत्नभाण्डागार* के इस श्लोक की छाया है—

तरुण-तमाल-कोमलमलीमसमेतदयं
कलयति चन्द्रमाः किल कलङ्कमिति ब्रुवते।
तदनृतमेव निर्दयविधुन्तुददन्त-पद-
व्रण-विवरोपदर्शितमिदं हि विभाति नभः॥

अर्थात् जो कहते हैं कि चन्द्रमा कोमल तरुण तमाल के समान इस कलङ्क को धारण किये है वह मिथ्या है; किन्तु हमारी समझ में दयारहित राहु के दाँत के छिद्र से यह आकाश दिखलायी पड़ता है।

... ...

कोउ कह जब विधि रति मुख कीन्हा, सार भाग ससि कर हर लीन्हा।
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर माहीं, तेहिं मग देखिअ नभ परिछाहीं।

इसमें इस श्लोक से साम्य है—

ब्रह्मणा रतिमुखं चिकीर्षता सङ्गृहीतममृतं विधोस्तदा।
तेन छिद्रमभवद्यथा दृश्यते गगनबिम्बनीलता॥

भाव-सादृश्य का कारण

स्थल-सङ्कोच के कारण अब हम अधिक मिलते-जुलते अवतरण न देंगे। उक्त उद्धरणों से विदित होता है कि गोस्वामी-जी ने प्राचीन ग्रन्थों से बहुत सी उक्तियों के भाव ही नहीं ग्रहण किये अपितु बहुधा उनके शब्द तक अपना लिये थे। इसका क्या कारण है ? उनकी नवनवोन्मेषशालिनी

प्रतिभा को देखते हुए यह कहने का साहस कौन करेगा कि उनको नये ढङ्ग से भाव व्यक्त करने की क्षमता नहीं थी और इसी से उन्होंने पुरानी उक्तियों का अनुवाद कर दिया है। कुछ लोग कहते हैं कि तुलसीदासजी का अध्ययन बहुत व्यापक था। उन्हें मेधा के साथ अपूर्व धारणा शक्ति भी प्राप्त हुई थी। उन्होंने जो कुछ पढ़ा था उसे अपना बना लिया था। इसी से उनकी रचनाओं में प्राचीन कवियों की बहुत सी उक्तियाँ आपसे आप ज्यों की त्यों आ गयी हैं। यह युक्ति बहुत कुछ ठीक हो सकती है। सम्भव है प्राचीन ग्रन्थों की बहुत सी उक्तियाँ चिर अभ्यास के कारण गोस्वामीजी के मन में बस गयी हों और वे अनायास ही उनका प्रयोग कर गये हों। उनका प्रयोग करते समय उन्हें यह खटका तक न हो कि मैं किसी अन्य कवि की शब्दावली अपहरण कर रहा हूँ। जो लोग बहुत पढ़ा करते और स्मरण रखने में समर्थ होते हैं उनकी वाणी और लेखनी से बहुधा दूसरों के विचार ही नहीं, वाक्य तक धारावाहिक रूप से निकला करते हैं। परन्तु हमारी समझ में तो गोस्वामीजी ने जान-बूझकर ऐसा किया है। उनकी रचनाओं में पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों से जो साम्य देखा जाता है वह उनकी इच्छा से हुआ है। इसका कारण था। *गीता* में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि जो योग की बातें मैं तुम्हें बतला रहा हूँ वे नयी नहीं हैं। वही मैंने कल्प के आदि में विवस्वान से कही थीं। विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को वही बातें बतलायी थीं। समय पाकर वे नष्ट हो गयी हैं। आज मैं फिर वही परम्परागत ज्ञान तुम्हें दूँगा।' इसी से *गीता* के ज्ञान को उपनिषदों का सार कहा जाता है। उसमें उपनिषदों के सिद्धान्त और उनके विचार ही नहीं, पद और वाक्य तक मिलते हैं। फलस्वरूप *गीता* पढ़ते वा सुनते समय सदा यही ध्यान में रहता है कि हमारे सामने पुरातन ज्ञान की ही चर्चा हो रही है। इसी प्रकार *रामचरितमानस* में भी परम्परा से प्राप्त राम की कथा तो मिलती ही है, उसमें जो भाव, विचार और

सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं वे भी सनातन हैं और प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार ही हैं। अतएव वे कभी नये नहीं लगते और हमारी पुरातन विचारधारा के अनुकूल ही ठहरते हैं। और 'श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ' का प्रदर्शन और असन्दिग्ध निरूपण ही तो मानसकार का लक्ष्य था। इसकी सिद्धि मौलिकता के फेर में पड़कर दूर की कौड़ी लाने के प्रयत्न से कदापि न होती। अतएव कवि ने चिरन्तन विचारधारा को चिर-परिचित शब्दावलि के द्वारा ही अभिव्यक्त करना श्रेयस्कर समझा। इतना ही नहीं, गोस्वामीजी ने प्राचीन उक्तियों को शब्दशः ग्रहण करके बड़ा काम भी किया है। समाज में अध्ययन-अध्यापन, कथा-वार्ता आदि के द्वारा जीवन के बहुत से आदर्श और धार्मिक सिद्धान्त इतने व्याप्त हो चुके थे कि विद्वान्, कम पढ़े और अपढ़ सभी वर्गों के लोग उनसे परिचित थे। आज भी बहुत कुछ यही दशा है। जिन्हें अपढ़ कहा जाता है उन ग्रामीणों और बुढ़ियों से धर्म-चर्चा करने पर शास्त्रोक्त विचार ही नहीं बहुधा उक्तियाँ तक सुनकर बहुधा पढ़े लिखे लोग चकित रह जाते हैं। प्रत्येक विचार के साथ उसको व्यक्त करने वाली शब्दा-वलि का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जिन शब्दों में ये धार्मिक विचार और सिद्धान्त शास्त्रों पुराणों आदि में व्यक्त किये गये थे वे घर-घर में घर कर चुके थे। सभी उन्हें समझते थे। उनके द्वारा उन विचारों को सर्वमान्यता मिल चुकी थी। गोस्वामीजी ने अपने प्रतिपादित विचारों की सर्वमान्यता अक्षुण्ण रखने के लिए ही उनको व्यक्त करने वाली वाक्यावलि को भी ग्रहण कर लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी कारण *मानस* के पाठक के लिए उसमें अभिव्यक्त मत गोस्वामीजी का व्यक्तिगत मत नहीं रह गया। वह भारतीय विचार परम्परा के अनुकूल वेद-शास्त्र का मत है। वह चिर-परिचित शब्दावलि में प्रकट किया गया है। इससे उसको तुरन्त समझ एवं मान लेने में किसी को कोई हिच-किचाहट भी नहीं हो सकती। अस्तु, जान तो यही पड़ता है कि गोस्वामी

जी अपने ग्रन्थ के श्रोताओं और पाठकों के सामने उनके चिरपरिचित विचार उन्हीं शब्दों में व्यक्त किये थे जिनसे उनका चिरन्तन परिचय और सम्बन्ध था और इसी से वे उन्हें इतने अधिक ग्राह्य और मान्य हुए हैं।

प्रतिपाद्य

राम-कथा के जितने ग्रन्थ हैं उनमें अधिकांश *रामायण* के नाम से प्रचलित हैं, परन्तु तुलसीदासजी ने अपने ग्रन्थ का नाम *रामचरितमानस* रखा। वे इस नाम-करण का कारण बतलाते हुए कहते हैं—

राम चरित मानस मुनि भावन, बिरचेउ संभु सुहावन पावन।
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन, कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन।
रचि महेस निज मानस राखा, पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा।
तातें रामचरित मानस वर, धरेउ नाम हिअँ हेरि हरषि हर।

तात्पर्य यह कि शम्भु ने इस मुनि-मानस-भावन रामचरित रूपी मानस की रचना की है। रचने के अनन्तर उन्होंने इसे अपने मानस (हृदय) में सुरक्षित रखा। फिर सुअवसर आने पर पार्वती से कहा। इसी अपने मानस के सम्बन्ध के कारण हर ने इसका नाम भी रामचरित-मानस रख दिया।

कथा की परम्परा

इस प्रकार जो राम-कथा गोस्वामीजी ने *मानस* में लिखी है उसका निर्माण सबसे पहले शिवजी ने किया। वे कथा की इस परम्परा के आदि आचार्य हैं। उन्होंने समय समय पर यह कथा कई व्यक्तियों को सुनायी थी। स्वयं उन्होंने यह कथा कुम्भज ऋषि से सुनी थी—

एक बार त्रेता जुग माहीं, संभु गये कुम्भज रिषि पाहीं।
सङ्ग सती जग जननि भवानी, पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी।
राम कथा मुनिवर्ज बखानी, सुनी महेस परम सुखु मानी।

राम-कथा सुनने के पश्चात् कुम्भज ऋषि के पूछने पर शिव ने

उनको रामभक्ति का मर्म बतलाया—

रिषि पूछी हरि भगति सुहाई, कही संभु अधिकारी पाई।

यह कथा इन्हीं कुम्भज (अगस्त) मुनि से सनकादि ने भी सुनी थी। इसकी सूचना सप्तम सोपान में इस प्रकार मिलती है। एक बार भ्राताओं और पवनकुमार के साथ श्रीराम उपवन देखने गये थे। वहाँ सनकादि आये। उनके सम्बन्ध में कवि ने लिखा है—

तहाँ रहे सनकादि भवानी, जहँ घट सम्भव मुनि बिग्यानी।
राम कथा मुनिवर बहु बरनी, ग्यान जोनि पावक जिमि अरनी।

वही कथा शिव ने लोमश मुनि से कही थी। लोमश ने स्वयं ही काकभुशुण्डि को बतलाया था कि—

रामचरित सर गुत सुहावा, संभु प्रसाद तात मैं पावा।

फिर लोमश ने मानस की कथा काकभुशुण्डि को सुनायी। काकभुशुण्डि ने गरुड से कहा था कि जब मैंने ऋषि के दिये हुए शाप को निर्भय होकर स्वीकार कर लिया और तदनुसार काक का शरीर पा लिया तब—

ऋषि मर्म महत सीलतां देखी, राम चरन बिस्वास बिसेखी।
अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई, सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई।
मम परितोष बिबिध बिध कीन्हा, हरषित राममन्त्र तब दीन्हा।
मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा, रामचरित मानस तब भाषा।

जो रामचरित काकभुशुण्डि ने लोमश से सुना उसे उन्होंने भगवान् शिव से भी प्राप्त किया था। गोस्वामीजी कहते हैं—

सोइ सिय कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥

काकभुशुण्डि से यह कथा याज्ञवल्क्य ने सुनी, जैसा कवि ने लिखा है—

तेहि सन जागबलिक पुनि पावा।

इस प्रकार रामचरित की परम्परा का निर्देश कवि ने *मानस* के

विविध स्थलों पर किया है। इसी कथा को प्रबन्ध के रूप में बनाकर कवि ने अपने ढङ्ग से कहा है। उन्होंने लिखा है कि

जागबलिक जो कथा सुहाई, भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई॥
कहिहउँ सोइ संबाद बखानी, सुनहु सकल सज्जन सुखमानी।
संभु कीन्ह यह चरित सुहावा, बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा, रामभगत अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा, तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुरु बारहिं बारा, समुझि परी कछु मति अनुसारा।
भाषा बद्ध करब मैं सोई, मोरे मन प्रबोध जेहिं होई।

इस प्रकार—

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी, रामचरित मानस कवि तुलसी।
करइ मनोहर मति अनुहारी, सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि *मानस* की कथा में चार प्रमुख वक्ता और चार श्रोता हैं। जो कथा शिव ने पार्वती को और काकभुशुण्डि ने गरुड को सुनायी थी वही याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से कही। उसी कथा को अपने गुरु से बार-बार सुनकर, कवि तुलसी ने अपनी मति के अनुसार 'सज्जनों' अथवा 'सुजनों' से कहा। अतएव *मानस* में कथा के ये चार वक्ता और श्रोता निरन्तर मिलते हैं। इनके संवाद एक-दूसरे में इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि कभी-कभी उन्हें अलग-अलग समझ सकना सहज नहीं होता। शिव-पार्वती, भुशुण्डि-गरुड एवं याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवादों की सूचना तो स्पष्ट रूप से यथा-स्थान मिल जाती है। वक्ता के श्रोता को सम्बोधित करने अथवा वक्ता के कहने की सूचना जहाँ-तहाँ कथा-प्रवाह के बीच में दी गयी है; किन्तु कवि ने कहीं सज्जनों या सुजनों को कथा-प्रसङ्ग के बीच में सम्बोधित

नहीं किया। उन्होंने कहीं-कहीं 'कवि' द्वारा कुछ कहकर स्वयं कथा के वक्ता होने का सङ्केत किया है, और अनेक छन्दों में तुलसी, तुलसीदास दास तुलसी आदि छाप रखकर यह सूचित किया है कि मैं कथा कह रहा हूँ। कवि ने ग्रन्थारम्भ में *मानस* को 'मानस-सर' मानकर बड़ा ही विशद साङ्ग रूपक बाँधा है। उसमें इन चारों संवादों को मानस-सर के चार घाट मानते हुए लिखा है कि

सुठि सुन्दर संवाद वर, बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥

इन चारों संवादों में श्रोताओं के मन की स्थिति प्रायः एक सी थी। आइए उसे जान लें। पहले हम गरुड को लेंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि

गरुड महा ग्यानी गुन रासी, हरि सेवक अति निकट निवासी।

अर्थात् गरुड विष्णु के प्रमुख पार्षद थे। वे सदा उनके निकट रहते थे। स्वयं अत्यन्त ज्ञानी और गुणराशि भी थे। यह सब होने पर भी एक बार उन्हें अज्ञान ने घेर ही तो लिया। जो कुछ हुआ उसे शिव ने पार्वतीजी से इस प्रकार बतलाया—

जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीडा, समुझत चरित होति मोहि ब्रीडा।
इन्द्रजीत कर आपु बँधायो, तब नारद मुनि गरुड पठायो।
बन्धन काटि गयो उरगादा, उपजा हृदय प्रचण्ड बिषादा।
प्रभु बन्धन समुझत बहु भाँती, करत बिचार उरगआराती।
ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा, माया मोह पार परमीसा।
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं, देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं।
भव बन्धन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम॥
नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा॥

बात ठीक-सी लगती है। गरुड ने सुन रखा था मायानाथ परमेश

अब राम के रूप प्रकट हुए हैं, परन्तु उन्होंने जाकर देखा कि मेघनाद ने उन्हें आसुरी माया के नागपाश में बाँध रखा है और वे उससे छुटकारा पाने में स्वयं असमर्थ हो रहे हैं। इस प्रकार राम में ईश्वरी शक्ति का अभाव देखकर गरुड को भ्रम हो गया कि ये भगवान् नहीं हैं। वे इसी सन्देह को मिटाने के लिए काकभुशुण्डि के पास पहुँचे।

इसी प्रकार पार्वती को अपने पूर्वजन्म के सती शरीर में मोह हो गया था। एक बार शिव के साथ वे कुम्भज ऋषि के आश्रम से लौट रही थीं। उस समय राम का अवतार हो चुका था। संयोग वश जिस समय सीता का अपहरण हो जाने पर राम विरही के समान विलाप करते हुए उनको ढूँढ रहे थे उसी समय शिव ने उन्हें देखा। कुसमय जानकर शिव ने उनसे परिचय न खोला। केवल 'जय सच्चिदानन्द जगपावन' कहकर अभिवादन किया और अपना मार्ग लिया। अपने इष्टदेव के दर्शन से उनके आनन्द का ठिकाना न था। उधर राम का नर के समान आचरण देखकर सती के मन में उथल-पुथल मच गयी। वे सोचने लगीं—

संकरु जगतबंद्य जगदीसा, सुर नर मुनि सब नावत सीसा।
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा, कहि सच्चिदानन्द परधामा।
भये मगन छवि तासु बिलोकी, अजहुँ प्रीति उर रहत न रोकी।

अतएव सती इस उलझन में पड़ गयीं कि—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥

और

बिष्नु जो सुरहित नर तनु धारी, सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी।
खोजइ सो कि अग्य इव नारी, ग्यानधाम श्रीपति असुरारी।
संभुगिरा पुनि मृषा न होई, सिव सर्बग्य जान सबु कोई।

सती की चिन्ता यह थी कि अज, अकल, अनीह और अभेद

ब्रह्म क्या नर-देह धारण कर सकता है ? फिर, यदि विष्णु ने अवतार लिया है तो वे भी शंकर के समान ही सर्वज्ञ हैं, अजान की भाँति अपनी नारी को क्यों ढूँढ रहे हैं ? और शिव सर्वज्ञ हैं, उनकी बात झूठ भी नहीं हो सकती। इसी उलझन में व्याकुल सती ने शिव से अपनी यह चिन्ता कह सुनायी। शिव ने उन्हें समझाया कि—

मुनि धीर जोगी सिद्ध सन्तत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगतहित निजतन्त्र नित रघुकुल मनी॥

इस पर भी सती को प्रबोध न हुआ। शिव ने कहा कि तुम्हें जो जान पड़े वह करो। अन्त में उन्होंने राम की परीक्षा लेने की ठानी। उस समय राम का अलौकिक प्रभाव देखकर वे सहम गयीं। उस परीक्षा के समय उन्होंने सीता का रूप धारण कर लिया था। इससे राम के भक्त-शिरोमणि शिव ने उन्हें त्याग दिया। ग्लानि से ऊबकर सती ने अपने पिता के यज्ञ में प्राण त्यागे। फिर हिमाचल के घर पार्वती रूप में जन्म लिया। इस शरीर से भी उन्होंने फिर शिव को ही पति रूप में प्राप्त किया। एक दिन उन्हें अपने पूर्वजन्म की घटनाएँ स्मरण आयीं। वे शिव के पास जाकर बोलीं—

जौं मोपर प्रसन्न सुख रासी, जानिय सत्य मोहि निज दासी।
तौ प्रभु हरहु मोर अग्याना, कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना।
प्रभु जे मुनि परमारथवादी, कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।
सेस सारदा बेद पुराना, सकल करहिं रघुपति गुन गाना।
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती, सादर जपहु अनँगआराती।
रामु सो अवधनृपति सुत सोई, की अज अगुन अलख गति कोई।

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरहँ मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

जौं अनीह व्यापक विभु कोऊ, कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ।

राम के वास्तविक रूप के सम्बन्ध में गरुड और पार्वती को जो अज्ञान और भ्रम था वही भरद्वाज को भी था। एक बार उन्होंने परम विवेकी याज्ञवल्क्य से कहा कि हे नाथ, वेदों का तत्त्व आपकी मुट्ठी में है। मेरे मन में सन्देह ने घर कर लिया है। उसे कहते हुए बड़ी झिझक होती है। फिर भी गुरु से दुराव करने पर विवेक नहीं हो सकता। इससे मैं अपना मोह आप से प्रकट करता हूँ। उसे दूर करने की कृपा कीजिये। भरद्वाजजी ने अपना मोह इस प्रकार प्रकट किया—

राम नाम कर अमित प्रभावा, सन्त पुरान उपनिषद् गावा।
सन्तत जपत संभु अविनासी, सिव भगवान ग्यान गुनरासी।
राम कवन प्रभु पूछउँ तोही, कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही।

फिर राम के सम्बन्ध में उनके मन में जो स्थिति थी उसको भरद्वाजजी ने यों बतलाया—

एक राम अवधेसु कुमारा, तिन्ह कर चरित विदित संसारा।
नारि विरह दुख लहेउ अपारा, भयउ रोष रन रावन मारा।
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्बग्य तुम्ह, कहहु विवेक विचारि॥

गरुड, पार्वती तथा भरद्वाज के आख्यान देकर राम के प्रति जिस भ्रम की चर्चा ऊपर की गयी है वही तत्कालीन समाज में फैला हुआ था। उसी को दूर करने के लिए गोस्वामीजी ने *रामचरितमानस* की रचना की। उन्होंने सज्जनों को इस कथा का श्रोता बनाया। कथा समाप्त होने पर शिवजी से कहला भी दिया कि

राम कथा के तेइ अधिकारी, जिन्हकें सत सङ्गति अति प्यारी।

इन सज्जन श्रोताओं को लक्ष्य करके वास्तव में लोक के हित के लिए ही राम-कथा कही गयी है। यह प्रत्येक वक्ता ने अपने

श्रोता से स्पष्ट कह दिया है। काकभुशुण्डि ने गरुड से कहा था कि

तुम्हहिं न संसय मोह न माया, मो पर नाथ कीन्ह तुम दाया।
पठइ मोह मिस खगपति तोही, रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही।

इस प्रकार काकभुशुण्डि ने सच्चे भक्त के शील का प्रदर्शन करते हुए गरुड का मोह दूर किया था।

याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से भी कुछ ऐसा ही कहा था। गोस्वामीजी कहते हैं—

जागबलिक बोले मुसुकाई, तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई।
रामभगत तुम मन क्रम बानी, चतुराई तुम्हारि मैं जानी।
चाहहु सुनै राम-गुन गूढ़ा, कीन्हिउ प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा।

वे जानते थे कि भरद्वाज अज्ञान बनकर राम-कथा सुनना चाहते हैं। परन्तु शिवजी ने पार्वती जी से जो कुछ कहा उससे कवि का लक्ष्य और भी खुल जाता है। उन्होंने कहा कि

धन्य धन्य गिरिराज कुमारी, तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी।
पूँछेउ रघुपति कथा प्रसङ्गा, सकल लोक जग पावनि गङ्गा।
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी, कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी।
राम कृपा तें पारवति, सपनेहुँ तव मन माहिं।
सोक मोह सन्देह भ्रम, मम बिचार कछु नाहिं॥
तदपि असंका कीन्हिहु सोई, कहत सुनत सब कर हित होई।

अभिप्राय यह कि शिवजी जानते थे कि वास्तव में पार्वती के मन में राम विषयक किसी प्रकार मोह, सन्देह वा भ्रम नहीं है। फिर भी उन्होंने कहा कि तुम्हारा प्रश्न 'सब के हित' के लिए है और इसके उत्तर में जो कुछ कहा-सुना जायगा उससे जगत् का हित होगा।

इसी लोक-हित के लिए गोस्वामीजी ने सुजनों को राम-कथा सुनायी थी। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने राम के माहात्म्य का प्रतिपादन अपने महाकाव्य का लक्ष्य बनाया। मोह से व्याकुल हो

गरुड राम का रहस्य जानने के लिए पहले नारद और फिर ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा की प्रेरणा से वे शिव के पास

लक्ष्य

पहुँचे। उस समय शिव कुबेर से मिलने जा रहे थे। गरुड ने उनसे अपना सन्देह कह सुनाया। इस पर उन्होंने कहा कि

मिलेहु गरुड मारग महँ मोही, कवन भाँति समुझावौं तोही।
तबहि होइ सब संसय भंगा, जब बहु काल करिअ सतसंगा।
सुनिअ तहाँ हरि कथा सुहाई, नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई।
जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना, प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।

काकभुशुण्डि ने गरुड को जिस रामचरित का मूल रूप सप्तम सोपान में सुनाया था उसी को तो विस्तार से गोस्वामीजी ने वर्णन किया है। उसमें भी वही राम का पूर्ण ब्रह्मत्व प्रतिपादित हुआ है जो भुशुण्डि ने गरुड से प्रतिपादित किया है। प्रथम सोपान के आरम्भ में कवि ने जो श्लोक लिखे हैं, उनमें छठा यह है—

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

इसका अर्थ है—मैं सम्पूर्ण कारणों से परे उन राम नामवाले हरि की वन्दना करता हूँ जिनकी माया के वश में सारा संसार, ब्रह्मा इत्यादि देवता और असुर हैं, जिनकी सत्ता के कारण यह नाशवान् जगत् (भ्रमवश) अविनाशी-सा दिखलायी पड़ता है, जैसे रस्सी सर्प जान पड़ती है और जिनके चरण भवसागर पार करने के इच्छुक लोगों के लिए नाव हैं।

इस श्लोक में मायापति राम को अखिल विश्व का कारण माना गया है। यही तुलसी के राम हैं। इन्हीं के रूप को स्पष्ट तथा अङ्कित करना उनका उद्देश्य था। यही बात शिव ने पार्वती से भी खुलकर कही

थी। गोस्वामीजी लिखते हैं—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा, नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा।
सहज प्रकास रूप भगवाना, नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना।
हरष बिषाद ग्यान अग्याना, जीव धर्म अहमिति अभिमाना।
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना, परमानन्द परेस पुराना।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ॥

× × × ×

सब कर परम प्रकासक जोई, राम अनादि अवधपति सोई।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू, मायाधीस ग्यान गुन धामू।

इसी प्रकरण में शिव ने और भी स्पष्ट रूप से कहा है कि—

आदि अन्त कोउ जासु न पावा, मति अनुमानि निगम अस गावा।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना, कर बिनु करइ करम बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा, ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा।
असि सब भाँति अलौकिक करनी, महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥
कासीं मरत जन्तु अवलोकी, जासु नाम बल करउँ बिसोकी।
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी, रघुबर सब उर अन्तरजामी।
राम सो परमातमा भवानी, तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी।

इससे अब शिव-प्रतिपादित राम के रूप के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। सच्चिदानन्द ब्रह्म राम हैं। वे सबके परम प्रकाशक हैं। अनादि हैं। मायाधीश हैं। आदि और अन्त से विहीन हैं। पैरों के विना चलने वाले, हाथों के विना कर्म करने वाले, मुँह के विना सब रसों को भोगनेवाले, वाणी के विना वक्तृता देनेवाले, परम

योगी, शरीर के बिना स्पर्श करनेवाले, नेत्र के बिना देखनेवाले, नाक के बिना सूँघनेवाले, वेद-निरूपित और मुनि-ध्यात ब्रह्म ही दशरथ-पुत्र राम हैं। उन्हीं के नाम के बल पर शिव काशी में प्राण त्यागनेवाले जीवमात्र को मुक्ति प्रदान करते हैं। वही चराचर के स्वामी, अन्तर्यामी रघुवर परमात्मा हैं। उनके विषय में भ्रम करना ठीक नहीं।

शिव के भ्रम-भञ्जन करने वाले इन वचनों को सुनकर पार्वती का मोह मिट गया।

सुनि सिव के भ्रम भञ्जन बचना, मिटि गई सब कुतरक कइ रचना।

वे परम सुखी हुईं। फिर उन्होंने पूछा—

राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी, सर्व रहित सब उर पुर बासी।
नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू, मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू।

इसी के उत्तर में शिव ने उमा को रामचरित सुनाया। अस्तु, उस चरित के आदि, मध्य और अवसान में सर्वत्र राम का वही रूप दिखलाया गया है जिसका शिव ने ऊपर उल्लेख किया है। आदि, मध्य और अन्त का यह अर्थ न लगाना चाहिये कि मानस के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में ही रघुवंश शिरोमणि राम का ब्रह्मत्व प्रकट किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि मानस में आदि से अन्त तक सर्वत्र यही दिखलाया गया है कि परात्पर ब्रह्म राम ही नर-लीला कर रहे हैं। इसी से राम के मानव-चरित्र में जहाँ कहीं ऐसे अवसर आये हैं जिनको देखकर उनकी अलौकिकता के सम्बन्ध में भ्रम हो सकता था वहीं चट सचेत करनेवाले वचन वक्ता शिव अथवा भुशुण्डि के द्वारा कहला दिये गये हैं। हम कह आये हैं कि पार्वती तथा गरुड का भ्रम, सन्देह और मोह दूर करने के लिए उन्हें क्रमशः शिव एवं काकभुशुण्डि ने यह कथा सुनायी थी। इसी से जब भी राम की लीला में उनके परब्रह्मत्व के विषय में सन्देह उत्पन्न होने की स्थिति आ सकती थी तब वक्ता श्रोता को सचेत करने से कभी नहीं चूके। इसी से कथा के वर्णन में कहीं कहीं

व्यवधान सा पड़ता जान पड़ता है और बार-बार इस प्रकार की उक्तियाँ देखकर कुछ विद्वान् गोस्वामीजी के रचना-कौशल पर उँगली उठाते हैं। वे यहाँ तक कह डालते हैं कि *मानस* के कवि ने राम की चाटुकारी करने का बीड़ा उठा रखा है और वे अपने पाठक को इतना मूर्ख समझते हैं कि उसको वही बात बारम्बार स्मरण दिलाने की आवश्यकता समझते हैं। परन्तु तुलसीदासजी ने समझ-बूझकर ऐसा किया है। किसी साधारण व्यक्ति को नहीं, शिव की अर्द्धाङ्गिनी पार्वती तथा विष्णु के पार्षद गरुड के सदृश ज्ञानियों को राम की नर-लीला देखकर मोह हो गया था और मोह एक दो बातों से नहीं दूर होता। उसको हटाने के लिए बहुत समझाने-बुझाने की आवश्यकता पड़ती है। फिर भी वह बार-बार आ घेरता है। इसी से गोस्वामीजी मोह उत्पन्न करा देनेवाले अवसरों के आते ही श्रोता को तत्काल सावधान करके वहाँ राम की भक्ति का प्रतिपादन करते चलना परम आवश्यक समझते थे। केवल थोड़े से ऐसे अवसर आये हैं जिनमें कोई सिद्धान्त स्पष्ट करने के लिए ही शिव ने पार्वती को और काकभुशुण्डि ने गरुड को सम्बोधित किया है, अन्यथा मोह में डालने वाले राम के चरित्र को सुनकर सावधान रहने के लिए ही उन्होंने श्रोता से ऐसे सम्बोधनात्मक वचन कहे हैं। कुछ उदाहरण देकर इस तथ्य को पुष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है।

श्रीराम के बाल रूप का वर्णन हो रहा है—

काम कोटि छवि स्याम सरीरा, नील कंज बारिद गम्भीरा।
अरुन चरन पङ्कज नख जोती, कमल दलन्हि बैठे जनु मोती।
रेख कुलिस ध्वज अङ्कुस सोहे, नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे।
कटि किङ्किनी उदर त्रय रेखा, नाभि गँभीर जान जेहि देखा।
भुज बिसाल भूषनजुत भूरी, हिय हरिनख सोभा अति रूरी।
उर मनिहार पदिक की सोभा, बिप्रचरन देखत मनु लोभा।

कम्बु कण्ठ अति चिबुक सुहाई, आनन अमित मदन छबि छाई।
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे, नासा तिलक को बरनै पारे।
सुन्दर श्रवन सुचारु कपोला, अति प्रिय मधुर तोतरे बोला।
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे, बहु प्रकार रचि मातु सँवारे।
पीत झिंगुलिया तनु पहिराई, जानु पानि बिचरनि मोहि भाई।

राम का यह सौन्दर्य मन को मोहित कर लेता है। इससे उनके ईश्वरत्व का स्मरण कराने और उनकी भक्ति की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता समझ शिव, वर्णन के प्रवाह को क्षण भर के लिए रोककर कहने लगते हैं—

रूप सकहिं नहि कहि श्रुत सेषा, सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा।
सुख सन्दोह मोहपर, ग्यान गिरा गोतीत।
दम्पति परम प्रेमबस, कर सिसुचरित पुनीत।
एहि बिधि राम जगत पितुमाता, कोसलपुरबासिन्ह सुखदाता।
जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी, तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी।
रघुपति बिमुख जतन कर कोरी, कवन सकइ भव बन्धन छोरी।
जीव चराचर बस कै राखे, सो माया प्रभु सों भय भाखे।
भृकुटि बिलास नचावै ताही, अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही।
मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई, भजत कृपा करिहहिं रघुराई।

इस प्रकार पार्वती को राम के परब्रह्म रूप का ध्यान कराते हुए शिव आगे फिर उनके नगर-वासियों को सुखदायक शैशव-विनोद का उल्लेख करते हैं।

दूसरा प्रसङ्ग मारीच के कपट-मृग बनने की प्रसिद्ध घटना का है। सीता उस माया-मृग के मनोहर रूप को देखकर भ्रम में पड़ गयीं। उन्होंने राम से उसका सुन्दर चर्म लाने का अनुरोध किया। उस माया का रहस्य राम से छिपा न था। कवि ने स्पष्ट कर दिया—

तब रघुपति जानत सब कारन, उठे हरषि सुरकाज सँवारन।

इतना ही नहीं। छद्मवेशी मृग का पीछा करते समय श्रीराम के लिए कवि ने यों लिखा है—

निगम नेति सिव ध्यान न पावा, माया मृग पाछे सो धावा।

मायाधीश राम की यह लीला श्रोता को भ्रम में डाल सकती थी, परन्तु कवि ने उसको सावधान कर दिया। राम सब कुछ जानते हैं, फिर भी वे देव-कार्य करने के लिए यह लीला कर रहे हैं।

एक और दृश्य देखिये। श्रीराम सीता को खोजने के लिए चल पड़े। वे लता, तरु, पत्तों तक से पूछ रहे हैं कि क्या तुमने मृग-नैनी सीता को देखा है? वे विरही के समान विषाद कर रहे हैं—

लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा, देखत केहि कर मन नहिं छोभा।
नारि-सहित सब खग मृग बृन्दा, मानहु मोरि करत हहिं निन्दा।
हमहिं देखि मृग निकर पराहीं, मृगीं कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं।
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाये, कञ्चन-मृग खोजन ये आये।
सङ्ग लाइ करिनीं करि लेहीं, मानहुँ मोहि सिखावनु देहीं।
सास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिअ, भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ।
राखिअ नारि जदपि उर माहीं, जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं।
देखहु तात बसन्त सुहावा, प्रिया-हीन मोहि भय उपजावा।
बिरह बिकल बलहीन मोहि, जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल॥

इसके पश्चात् कामदेव की सेना का विशद साङ्ग रूपक है। उसे पढ़कर असावधान श्रोता को कोई सन्देह नहीं रह जाता कि रामचन्द्र विरहावस्था में पड़े सामान्य नर हैं। इसी अवसर पर सती ने उनको देखकर मनुष्य समझ भी लिया था। इसी भ्रम से बचाने के लिए शिव ने पार्वती को तत्क्षण सचेत किया—

गुनातीत सचराचर स्वामी, राम उमा सब अन्तरजामी।
कामिन्ह कै दीनता देखाई, धीरन्ह के मन बिरति दढाई।

क्रोध मनोज लोभ मद माया, छूटहिं सकल राम की दाया।
सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला, जापर होइ सो नट अनुकूला।
उमा कहउँ मैं अनुभव अपना, सत हरि भजनु जगत सब सपना।

अङ्गद ने रावण की सभा में प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई मेरा पैर उस स्थान से हटा दे जिस पर मैंने रख दिया है तो 'फिरहिं राम, सीता मैं हारी'। इस पर अन्य सब सभासदों के असफल प्रयास होने पर स्वयं रावण उठा। तब अङ्गद ने कहा कि मेरा पैर पकड़ने से तेरा उद्धार न होगा, तू राम के पैर क्यों नहीं पकड़ता? इस पर रावण लज्जित होकर बैठ गया। अङ्गद की प्रतिज्ञा अटल रही। इस समय भी शिव पार्वती से राम की दैवी शक्ति की चर्चा करना नहीं भूलते। वे कहते हैं—

जगदातमा प्रानपति रामा, तासु बिमुख किमि लह बिस्रामा।
उमा राम की भृकुटि बिलासा, होइ बिस्व पुनि पावइ नासा।
तृन तें कुलिस कुलिस तृन करई, तासु दूत पन कहु किमि टरई।

शिवजी ने युद्ध में मारे गये राक्षसों को राम के हाथ से सद्‌गति दिलाने का उल्लेख किया। वहाँ भी राम की दिव्य शक्ति और भक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है—

महा महा मुखिया जे पावहिं, ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं।
कहइ बिभीषन तिन्ह के नामा, देहिं राम तिन्हहूँ निज धामा।
खल मनुजाद द्विजामिष भोगी, पावहिं गति जो जाचत जोगी।
उमा राम मृदु चित करुनाकर, बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर।
देहिं परमगति सो जिय जानी, अस कृपाल को कहहु भवानी।
अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी, नर मतिमन्द ते परम अभागी।

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर रामचन्द्रजी विलाप करते समय कुछ ऐसी बातें कह गये थे जो उनके व्यक्तित्व के अनुरूप न थीं। यथा

जो जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू, पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू।

इस प्रसङ्ग में राम के उद्‌गार सहृदय भाई की स्वाभाविक मानसिक दशा के अनुकूल हैं। अतएव यह रामचन्द्रजी के नरत्व का सच्चा चित्र है। कहीं इसे ही उनका वास्तविक रूप न समझ लिया जाय इससे शिवजी वहीं कहते हैं—

उमा एक अखण्ड रघुराई, नरगति भगत कृपाल दिखाई।

ऐसे ही जब कुम्भकर्ण के सामने वानरों और भालुओं की सेना के पैर उखड़ गये और वह अङ्गद आदि को मूर्च्छित करके सुग्रीव को अपनी काँख में दबाकर चल पड़ा तब शिवजी ने सोचा कि यह ऐसा प्रसङ्ग है जिससे मन पर भ्रम अपना प्रभाव जमा सकता है। इससे वे तुरन्त बोले—

उमा करत रघुपति नर-लीला, खेल गरुड जिमि अहिगन मीला।
भृकुटि भङ्ग जो कालहि खाई, ताहि कि सोहै ऐसि लराई।
जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं, गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं।

इसी युद्ध में आगे चलकर जब मेघनाद ने रामचन्द्रजी को अपनी माया के नागपाश में बाँध दिया तब उनकी अलौकिक शक्ति के प्रति सन्देह उत्पन्न होने का अवसर उपस्थित हुआ। और गरुड को तो इसी समय भ्रम-जाल ने फँसा ही लिया था। कहीं पार्वती भी उसमें न पड़ जायँ इसलिए शिवजी ने उन्हें सतर्क किया—

ब्याल पास बस भये खरारी, स्वबस अनन्त एक अविकारी।
नर इव कपट चरित कर नाना, सदा स्वतन्त्र एक भगवाना।
रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो, नाग पास देवन्ह भय पायो।

गिरिजा जासु नाम जपि, मुनि काटहिं भय पास।
सो कि बन्ध तर आवै, व्यापक बिस्व निवास।

चरित राम के सगुन भवानी, तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी।
अस बिचारि जे तग्य बिरागी, रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी।

ऐसे ही कई अन्य अवसरों पर भी शिव ने मोह उत्पन्न कर

सकने वाले अवसर आते ही पार्वती को सावधान किया है।

काकभुशुण्डि भी कथा का प्रवाह रोककर रामचन्द्र के सम्बन्ध में भ्रम से बचाने के लिए गरुड को चेतावनी देना कभी नहीं भूले। यथा, जिस समय राजतिलक के अनन्तर रामचन्द्रजी सुग्रीव, अङ्गद आदि को विदा करने गये उस समय अङ्गद का प्रेम देखते ही बनता था। वह किसी भी प्रकार राम के पास से हटकर किष्किन्धा जाना ही नहीं चाहता था—

अङ्गद हृदय प्रेम नहिं थोरा, फिरि फिरि चितव राम की ओरा।
बार बार कर दण्ड प्रनामा, मन अस रहन कहहिं मोहि रामा।
राम बिलोकनि बोलनि चलनी, सुमिरि सुमिरि सोचत हँस मिलनी।

परन्तु अन्त में

प्रभु रुख देखि बिनय बहु भाषी, चलेउ हृदय पद-पङ्कज राखी।

इसके पश्चात् सुग्रीव की आज्ञा पाकर हनुमान 'रघुपति-पद-सेवा' के लिए लौटने लगे। तब अङ्गद का प्रेम फिर उमड़ आया। उसने हनुमान से कहा—

कहेहु दण्डवत प्रभु सैं, कहौं तुम्हहिं कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि, सुरति करायेउ मोरि॥

इसके अनन्तर जो हुआ वह कवि के मुँह से सुनिये—

अस कहि चलेउ बालिसुत, फिरि आयेहु हनुमन्त।
तासु प्रीति प्रभु सन कही, मगन भये भगवन्त॥

अङ्गद के प्रेम की चर्चा होने पर राम भी प्रेम-मग्न हो गऐ उनका यह मानव सुलभ प्रेमातिरेक उनकी कथा के श्रोता को चक में डाल सकता था। यह देख काकभुशुण्डि ने तुरन्त गरुड को स किया—

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस राम कर, समुझि परै कहु काहि?

राम-कथा सुनने के पश्चात् काकभुशुण्डि ने गरुड से कहा था कि आपको ही नहीं, नारद, ब्रह्मा, सनकादि और आत्म-ज्ञानी मुनियों तक को मोह हो चुका है। माया का प्रचण्ड कटक संसार भर में व्याप्त है। परन्तु

जो माया सब जगहि नचावा, जासु चरित लखि काहु न पावा।
सोइ प्रभु भ्रू-विलास खगराजा, नाच नटी इव सहित समाजा।
सोइ सच्चिदानन्द घन रामा, अज बिग्यान रूप बलधामा।
प्रकृतिपार प्रभु सब उर बासी, ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।
इहाँ मोह कर कारन नाहीं, रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं।
भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥

इसी प्रकरण में काकभुशुण्डि ने अपने मोह होने, राम के भीतर प्रविष्ट होने एवं वहाँ विराट रूप देखने का वर्णन करके अपना अनुभव बतलाया था और अन्त में निष्कर्ष रूप से कहा था कि

कवनिउ सिद्धि कि बिन बिस्वासा, बिनु हरि-भजन न भव-भय नासा।
बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिस्रामु॥

अतएव

अस बिचारि मति धीर, तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर, करुनाकर सुन्दर सुखद॥

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी ने कथा के प्रवाह के रुक जाने की चिन्ता छोड़कर भी, उसमें क्षण भर के लिए व्याघात पहुँचाते हुए भी, अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए राम का परात्पर ब्रह्मत्व सूचित करते रहना आवश्यक समझा था। ऐसा बारम्बार करने का एक मात्र कारण यह था कि मोह किसी भी क्षण आकर मन पर अपना प्रभाव डाल सकता है। इसलिए यदि कभी भी उसके आक्रमण की आशङ्का

हो तो तुरन्त ही श्रोता को सचेत कर देना उचित है। इसी से उन्होंने मानस के आदि, मध्य और अवसान में अर्थात् सर्वत्र 'प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना' का ध्यान रखा है।

राम-भक्ति की व्याप्ति

गोस्वामीजी ने कथा कहते-कहते थोड़ी देर रुककर अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए राम के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन ही नहीं किया। उन्होंने अन्य प्रकार से भी इस कार्य का सम्पादन किया है।

मानस में श्रीराम के सम्पर्क में आने वाले जिन व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है वे सभी प्रकट वा अप्रकट रूप से उनके भक्त थे और उनको ईश्वर मानते थे। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए *मानस* के पात्रों पर विचार करना उचित होगा।

चरित्रों का वर्गीकरण

रामचरितमानस में जिन व्यक्तियों के बीच श्रीराम के जीवन का विकास देखा गया है उनके सम्बन्ध में उक्त दृष्टि से विचार करने में सुविधा हो, इस उद्देश्य से उनको कुछ वर्गों में बाँट लिया जाय तो अच्छा हो। पहले वर्ग में हम उनको लेंगे जो श्रीराम के परिवार के और आत्मीयजन थे; दूसरे में उनकी गणना करेंगे जो उनके भक्त और अनुगत थे और तीसरे में उनको देखेंगे जो उनके विरोधी और विपक्षी थे। इन तीनों समूहों के पात्रों के चरित्र का केवल वह अंश देखने की चेष्टा करेंगे जो सबमें समानरूपेण पाया जाता है, उनके व्यक्तित्व का सम्यक् परिचय आगे देंगे। साथ ही विस्तारभय से बहुत-सी बातों का सङ्केतमात्र करेंगे।

दशरथ

आइये, सबसे पहले हम श्रीराम के पारिवारिक सम्बन्ध के महानुभावों पर दृष्टिपात करें। मनु और शतरूपा ने (दूसरे कल्प में कश्यप और अदिति ने) 'हरि-हेतु' तप किया। प्रभु ने उनका पुत्र होना स्वीकार किया। वे ही अयोध्या में क्रमशः दशरथ और कौशल्या हुए। कुलगुरु वसिष्ठ के आदेश से

महाराज दशरथ ने शृङ्गी ऋषि के द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। पूर्व जन्म में प्राप्त वर के प्रसाद से कौशल्या के गर्भ में श्रीहरि आये। वही आनन्द-सिन्धु, सुखराशि और सुखधाम श्रीराम हुए। महाराज दशरथ को अन्य रानियों से भी पुत्र हुए थे—कैकेयी से भरत और सुमित्रा से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न—तथा उन्हें सभी सुत प्राण-समान प्रिय थे, फिर भी श्रीराम सबसे अधिक प्रिय थे। यह बात उन्होंने स्वयं विश्वामित्रजी से उस समय स्वीकार की थी जिस समय उन्होंने राक्षसों से अपने यज्ञ की रक्षा करने के लिए अनुज-सहित श्रीरघुनाथ को कुछ दिनों के लिए महाराज से माँगा था। वे ज्ञानी मुनि विश्वामित्र राजा की प्रेम रस में सनी उक्ति सुनकर हर्षित हुए थे। कारण, वे इस बात से राजा के आन्तरिक प्रेम से परिचित हो गये। और यह प्रेम साधारण वात्सल्य प्रेम मात्र न था। यदि वही होता तो राजा ने, आगे चलकर, कैकेयी को दिये हुए वरदान के कारण निर्दोष राम का चौदह वर्ष का दीर्घकालीन वियोग उपस्थित होने पर तृण के समान प्राण न त्याग दिये होते। राजा 'ब्रह्म' राम की पुत्रविषयक रति का वरदान पूर्व जन्म में पा ही चुके थे। तभी वे यह भी माँग चुके थे कि

मनि बिनु फनि, जिमि जल बिनु मीना, मम जीवन तुम तुम्हहिं अधीना।

पाञ्चभौतिक शरीर त्यागने के बाद राजा दशरथ 'सुरधाम' (देवलोक) गये। श्रीराम की रावण-विजय के अनन्तर देवलोक से राजा दशरथ उनके पास आये। प्रेमातिरेक के कारण उनकी आँखें भर आयीं, उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया। रघुपति ने उनके उसी (पुत्रविषयक) प्रेम का अनुमान करके उन्हें (सायुज्य) मुक्ति न देकर सुरधाम प्रदान किया। इससे स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि दशरथ राम के भक्त थे।

जैसा कहा जा चुका है, कौशल्याजी ने श्रीराम को पूर्व जन्म के तप के परिणामस्वरूप पाया था। जन्म लेते ही वनमाला-विभूषित चतुर्भुज रूप में श्रीकान्त ने माता को दर्शन दिये। उनके निवेदन करने

पर बालरूप ग्रहण करके शिशुलीला की। कुछ समय के पश्चात् एक दिन कौशल्याजी ने श्रीराम को स्नान कराया, उनका शृङ्गार किया। फिर उन्हें पालने में सुला दिया। तब स्वयं स्नान करके अपने इष्टदेव की पूजा की और उन्हें नैवेद्य चढ़ाया। फिर वे पाकशाला गयीं। वहाँ से लौटने पर उन्होंने, पुत्र को नैवेद्य का भोजन करते देखा, और वहाँ से लौटकर देखा कि पालने में पुत्र सो भी रहा है। इस प्रकार एक ही पुत्र को एक ही समय दो काम करते देखकर कौशल्या बड़ी व्याकुल हुईं। इस पर प्रभु मुसकराये। उनके मुख के भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड देखने के साथ ही कौशल्या ने देखा कि जीव को नचाने वाली माया प्रभु के सामने हाथ जोड़े खड़ी है और वहीं उसके बन्धन से जीव को मुक्त करनेवाली भक्ति भी उपस्थित है। कौशल्या ने इस घटना में अपने इष्टदेव राम को पहचाना और उनकी भक्ति का रहस्य देखा। इसी भक्ति के बल पर उन्होंने वनवासी श्रीराम का चिरकालिक वियोग सहन किया।

कौशल्या

कैकेयी को वास्तव में राम 'प्रान ते अधिक प्रिय' थे, परन्तु उन्होंने जो उनके वन जाने के लिए हठ किया था, वह 'भावी बस' (होनहार के कारण) समझना चाहिये। और जब उन पर मन्थरा की कुसङ्गति का प्रभाव दूर हुआ, तब वे इस राम-द्रोह का फल आजीवन भोगती रहीं। उनकी इसी आत्म-ग्लानि को दूर करने के लिए श्रीराम ने चित्रकूट में सब माताओं से पहले उन्हीं को भेंटा था—प्रथम राम भेटी कैकेई, और अयोध्या लौटने पर वे उनसे बार-बार मिले थे—

कैकेयी

कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले, मन कर छोभ न जाइ।

और सुमित्राजी तो मानती ही थीं कि वही युवती पुत्रवती कहलाने की अधिकारिणी है जिसका पुत्र रघुपति का भक्त हो। राम के विमुख पुत्र को जन्म देना (पशुओं

सुमित्रा

की भाँति) ब्याना है और ऐसे पुत्र को ब्याने की अपेक्षा बाँझ रहना अच्छा है—

पुत्रवती जुबती जग सोई, रघुबर भगत जासु सुत होई।
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी, राम बिमुख सुत ते हित हानी।

इसी लिए उन्होंने श्रीराम के साथ वन जाने की आज्ञा लेने के निमित्त अपने पास आये हुए लक्ष्मण से कहा था कि—

सकल सुकृत कर बड़ फल एहू, राम सीय पद सहज सनेहू।

लक्ष्मण-जैसे अनन्य राम-सेवक की माता सुमित्रा की राम-भक्ति की उच्चता का अनुमान इतने से ही लगाया जा सकता है।

लक्ष्मण

सुमित्रा-तनय लक्ष्मणजी देह और गेह सबसे तिनके की तरह सम्बन्ध तोड़कर श्रीराम के अविचल अनुगामी हुए थे। उनके विषय में कवि ने लिखा है कि

बारेहि तें निज हित पति जानी, लछिमन रामचरन रति मानी।

उनके आदर्श और सिद्धान्त, उन्हीं के उन वचनों से सूचित होते हैं जो उन्होंने श्रीराम से कहे थे—

जहँ लगि जगत सनेह सगाई, प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई।
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी, दीनबन्धु उर अंतरजामी।

और कवि ने भी कहा है कि

भरत सत्रुहन दूनउ भाई, प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई।

कौशल्याजी के कथनानुसार भरतजी के 'राम प्रानहु ते प्रान' थे और स्वयं भरत ने कहा था कि 'सियपति सेवकाई' ही मेरा 'हित'

भरत

है—हित हमार सियपति सेवकाई। सच पूछिये तो भरत श्रीराम के स्नेह के रूप थे—'धरें देह जनु राम सनेहू।' उनकी श्रीराम-भक्ति का वर्णन *मानस* के कवि ने द्वितीय सोपान में जिस विशद और मनोरम ढङ्ग से किया है, उसे वहीं देखना चाहिये। वे तो रामभक्तों में अग्रगण्य हैं। गोस्वामीजी ने एक ही अर्धाली में

उनका समस्त रूप अङ्कित कर दिया है—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू, जीह नामु जप लोचन नीरू।

उनका पावन चरित लोक को श्रीराम की भक्ति की ओर आकृष्ट और सांसारिकता से विरत करने का साधन है—

भरत चरित करि नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय रामपद पेमु, अवसि होइ भव रस बिरति॥

सीता

सीताजी तो परम पुरुष राम की 'परमशक्ति' ही थीं। जब रावण के अत्याचारों से व्याकुल होकर देवताओं ने प्रभु से भू-भार हटाने की प्रार्थना की थी, तब उन्होंने आश्वासन देते हुए कहा भी था—

परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।

श्रीराम उन 'जगदंबिका रूप गुन खानी' सीताजी के सर्वस्व थे। उन्होंने उनसे वनयात्रा के प्रसङ्ग में कहा भी था—

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं, मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं।

जब रावण ने उनका अपहरण कर उन्हें अशोकवाटिका में बन्दिनी किया था, तब वे अहर्निश श्रीराम के ध्यान में मग्न रहती थीं—

जेहि बिधि कपट कुरङ्ग सँग, धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरिनाम॥

वे 'दीनबन्धु प्रनतारति हरना' की 'मन क्रम वचन चरन अनुरागी' थीं। और उनकी सेवा ही उनका चरम कर्तव्य था—

जेहि बिधि कृपासिन्धु सुख मानइ, सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ॥

उनकी अनन्य रामभक्ति के विषय में गोस्वामीजी ने कहा है—

जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत चितव न सोइ।
राम पदारबिंद रति, करति स्वभावहि खोइ॥

भोग को योग में गुप्त रखने वाले राजर्षि जनक ने अपनी पुत्री

में विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के पधारने पर तुरन्त ही उनका रूप पहचान लिया था, क्योंकि उनका 'सहज विराग रूप मन' राम को देखते ही 'थकित होत जिमि चन्द चकोरा'।

जनक

तभी राजा ने मुनि से राजकुमारों के विषय में जिज्ञासा की थी कि

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा, उभय वेष धरि की सोइ आवा ?

उन्होंने विवाह के उपरान्त विदा होते समय श्रीराम से जो प्रेममयी बातें की थीं, उनसे उनके सम्बन्ध की उनकी धारणा स्पष्ट होती है—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा, मुनि महेस मन मानस हंसा।
करहिं जोग जोगी जेहि लागी, कोहु मोहु ममता मृदु त्यागी।
व्यापकु ब्रह्मु अलखु अविनासी, चिदानन्दु निरगुन गुनरासी।
मन समेत जेहि जान न बानी, तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।
महिमा निगमु नेति कहि कहई, जो तिहुँ काल एकरस रहई।

नयन विषय मो कहुँ भयउ, सो समस्त सुख मूल।
सबहि लाभु जग जीव कहँ, भयें ईसु अनुकूल॥

श्रीरामचन्द्र के इन आत्मीयजनों के अतिरिक्त उनके गुरुद्वय वसिष्ठ और विश्वामित्र भी हृदय से उनके भक्त थे। वसिष्ठजी ने तो वेद, पुराण और स्मृति में निन्दित 'अति मन्द उपरोहित्य कर्म' सूर्यवंश में केवल इस लोभ से किया था कि आगे चलकर 'परमात्मा ब्रह्म नररूप' धारण करके 'रघुकुलभूप' होंगे और जिनके लिए योग, यज्ञ, व्रत, दानादि किये जाते हैं, वही मुझको मिल जायँगे। उनकी धारणा थी कि

वसिष्ठ

सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पण्डित, सोइ गुनगृह विग्यान अखण्डित।
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई, जाकें पद सरोज रति होई।

इसी लिए उन्होंने कहा था कि

नाथ एक बर मागउँ, राम कृपा करि देहु।

जन्म जन्म प्रभुपद कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु ॥

विश्वामित्रजी को जब राक्षसों के उत्पात के कारण यज्ञ करना कठिन हो गया—

विश्वामित्र

तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा, प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा ।

एहूँ मिस देखौं पद जाई, करि बिनती आनौं दोउ भाई ।

ग्यान बिराग सकल गुन अयना, सो प्रभु मैं देखब भरि नयना ।

श्रीराम कुछ व्यक्तियों के ही नहीं, समष्टि रूप से सब लोगों के भी इष्ट थे । वे अयोध्या-वासियों के तो सुखदाता थे । उन लोगों ने खुलकर कहा है कि

जन समाज

राम लखन सिय बिनु सुख नाहीं ।

और वे जनकपुर के निवासियों को भी सुखद थे—

निरखि सहज सुन्दर दोउ भाई, होहिं सुखी लोचन फलु पाई ।

ऐसे ही, ग्रामवासी स्त्री-पुरुष सब राम, लक्ष्मण और सीता के प्रति जिस प्रीति का अनुभव करते थे वह साधारण राजकुमार वा राजकुमारी के प्रति नहीं हो सकती थी । वन जाते समय मार्ग में पड़नेवाले गाँवों के रहनेवालों को उनसे जो सुख मिला था वह वर्णनातीत है । मानस के द्वितीय सोपान में गोस्वामीजी ने उनके प्रेम का बड़ा ही विशद वर्णन किया है ।

यह तो हुई जनसमूह की श्रीराम के प्रति भक्ति की बात । अब हम मानस के कुछ ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को देखेंगे जो राम को ईश्वर रूप में देखते थे । पहले हम कुछ परमार्थ-साधकों को लेंगे । ऊपर लोक के कार्यों में संलग्न, परन्तु सतत परलोक का ध्यान रखने वाले दो महात्माओं—वसिष्ठ और विश्वामित्र—की राम-विषयक प्रवृत्ति का उल्लेख हो चुका है । अब कुछ विरागी साधुओं की भी तत्सम्बन्धी धारणा देख ली जाय । राम जिस समय लक्ष्मण और सीता के साथ भरद्वाज मुनि के आश्रम

भरद्वाज

में पहुँचे थे उस समय का—

मुनि मन मोद न कुछ कहि जाई, ब्रह्मानन्द रासि जनु पाई।

मुनि ने भगवान् से कहा था कि

आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू, आजु सुफल जप जोग बिरागू।
सुफल सकल सुभ साधन साजू, राम तुम्हहि अवलोकत आजू।
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी, तुम्हरे दरस आस सब पूजी।

इसी तरह अपने आश्रम में

मङ्गल मूरति नयन निहारी, बालमीकि मन आनँदु भारी।

वाल्मीकि

हुआ था। मुनि ने राम को जगदीश और सीता को उनकी माया कहा था और बतलाया था कि

चिदानन्दमय देह तुम्हारी, बिगत बिकार जान अधिकारी।
नरतनु धरेहु सन्त सुर काजा, कहहु करहु जस प्राकृत राजा।

कुछ काल तक चित्रकूट में रहने के अनन्तर जब श्रीरामचन्द्र वहाँ के तपस्वी ऋषियों से विदा होकर आगे जाने लगे तब उन लोगों

अत्रि

ने उनकी जो स्तुतियाँ की हैं उनसे प्रकट होता है कि वे श्रीराम को ईश्वर ही मानते थे। अत्रि ने स्तुति करने के पश्चात् हाथ जोड़कर श्रीराम की विनती की थी कि—

चरन सरोरुह नाथ जनि, कबहुँ तजै मति मोरि।

ऐसे ही शर्भङ्ग मुनि ने प्रार्थना की थी कि—

शर्भङ्ग

सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु स्याम।
मम हियँ बसहु निरन्तर, सगुन रूप श्रीराम॥

श्रीराम की प्रतीक्षा में सुतीक्ष्णजी की जो सजीव शब्दमूर्ति गोस्वामीजी ने बनायी है वह अनुपम है। ध्यान-मग्न मुनि 'बहुभाँति'

सुतीक्ष्ण

जगाने पर भी जब न जगे तब प्रभु ने 'भूपरूप' छोड़कर उनके हृदय में अपना 'चतुर्भुजरूप' दिखलाया। इस पर मुनि की मणि-अपहृत फणी की-सी आकुलता उनकी

श्रीरामोपासना की अनन्यता सूचित करती है और बाद में उनका
माँगना और यह कहना कि—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे, मैं सेवक रघुपति पति मोरे।

उन्हें रामभक्त घोषित करता है।

इसी प्रकार ब्रह्मज्ञ अगस्त्य ऋषि ने भी खुले शब्दों में कहा है

अगस्त्य

फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मागौं।

इन ब्रह्मज्ञानियों के साथ ही चित्रकूट के कोल-भिल्ल
सामान्य जनों ने भी राम की ईश्वरता को जानकर परम सन्तोष
किया था। निषादराज गुह की भगवद्भक्ति विख्
है। वे राम के अपनाये हुए अन्तरङ्ग भक्त थे।
शवरी भीलनी उनकी अद्वितीय भक्त थी। वह तो उनके मुखकमल
हृदय में ध्यान करते हुए योगाग्नि से उनके सामने ही शरीर त्याग
उनमें लीन हो गयी थी। उसके अतिरिक्त अपनी नाव पर गङ्गा
उतारने वाला केवट भी श्रीराम के मर्म को जानने वाला था।
जिस चतुरता से भगवान् का चरणोदक पाया था उसका स्मरण
ही मन मुग्ध हो जाता है। गोस्वामीजी ने श्रीरामचन्द्र की भक्ति
रस इन साधारण जीवों को ही नहीं चखाया, पशु-पक्षियों तक को
पान कराया है। चित्रकूट के चर-अचर सभी प्राणी राम के सामी
कृतार्थ हो गये थे।

गुह-शवरी

इसी प्रसङ्ग में गृध्रराज जटायु का स्मरण आता है।
भगवान् के हाथों से अन्त्येष्टि-संस्कार का सौभाग्य मिला। भक्ति
इससे बढ़कर पुरस्कार किसी दूसरे जड या चेतन
को नहीं मिला। संयोगवश यह सौभाग्य स्वयं मह
दशरथ को नहीं मिला, जिनको इसका अधिकार था।

गृध्रराज

तुलसी के राम के भक्त केवल नागरिक सभ्य, वनवासी
तपस्वी, और असभ्य नर ही नहीं थे अपितु वानर और भालु भी

जो नरकोटि में नहीं आते। उनमें कुछ प्रमुख सुग्रीव, अङ्गद और जाम्ववान श्रीराम के भक्त और अनुचर थे। उनके भक्त सुग्रीव का शत्रु वालि यद्यपि अपनी पत्नी तारा के बहुतेरा समझाने पर भी उनके महत्त्व से भयभीत नहीं हुआ था, तथापि उसने भी श्रीराम के अपने सम्मुख उपस्थित होने पर उनके ईश्वरत्व को स्वीकार किया था और उनके हाथ से मरकर मुक्ति पायी थी।

वानर-भालु

जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं।
जासु नाम बल संकर कासी, देत सबहिं सम गति अविनासी।
मम लोचन गोचर सोइ आवा, बहुरि कि प्रभु अस बनइ बनावा।

वानर-शिरोमणि हनुमान! वे तो राम के परम प्रिय सेवक ही नहीं, प्रधान भक्तों के भी मुकुट-मणि थे। वे कृपासिंधु के 'मन क्रम वचन' से दास थे। भगवती सीता ने उन्हें आशीर्वाद दिया था कि 'करहुँ बहुत रघुनायक छोहू'। इसी राम भक्ति के प्रताप से *मानस* के समस्त पात्रों में हनुमान अग्रगण्य हैं।

हनुमान

अभी तक जिन महानुभावों का नाम लिया गया है वे श्रीराम के आत्मीयजन, उपासक वा अनुगत थे। उनमें से केवल वालि ऐसा था जो उनके रूप को न पहचान सकने के कारण पहले उनका भक्त नहीं था, परन्तु पीछे से उसने भी जन्म-जन्मान्तर में भी राम-पद की रति का वरदान माँगकर प्राण त्यागे थे और उनकी ईश्वरता स्वीकार की थी। उसने कहा था—

वालि

जेहि जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ।

अब ऐसे लोगों के विषय में कुछ कहना है जो श्रीरामचन्द्र के शत्रु वा शत्रुपक्ष के थे। इन लोगों में पहले ऐसों पर विचार कर लिया जाय जो शत्रुवर्ग में रहते हुए भी श्रीराम के प्रशंसक और भक्त थे। सर्वप्रथम विभीषण को लें। वे पहले से ही श्रीराम के उपासक थे। हनुमानजी सीतान्वेषण में उनके

विभीषण

अवर्णनीय शोभावाले भवन को 'रामायुध-अङ्कित' और 'नव तुलसिका वृन्द'-सहित देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए थे। उसे देखते ही उन्होंने अनुमान कर लिया था कि उसमें रहने वाला व्यक्ति सज्जन है। वे ऐसा विचार कर ही रहे थे कि विभीषणजी जगे। जगते ही उन्होंने 'राम-राम' का स्मरण किया। फिर क्या था, हनुमानजी प्रकट होकर उनसे पूछताछ करने के लिए प्रोत्साहित हुए। वार्तालाप करने पर विभीषण खुले। उन्होंने लङ्का में अपनी 'दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी' की-सी 'रहनि' बतलायी और पूछा कि

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा, करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा।

उन्हें अपने साधन या प्रभु के पद सरोज में प्रीति का भरोसा न होते हुए उनकी अकारण कृपा का विश्वास था—

तामस तन कछु साधन नाहीं, प्रीति न पद सरोज मन माहीं।
अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता, बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता।

यही भक्त का लक्षण है। यदि भक्त को अपने कर्मों का अभिमान हुआ तो उसका भगवान् की ओर आत्म-समर्पण बुद्धि से बढ़ना सुगम नहीं होता। विभीषण ने जब देख लिया कि रावण अनीति का पथ किसी प्रकार नहीं छोड़ता और समझाने पर भी उन्हें मानुष-तनधारी 'ब्रह्म, अनामय, अज, भगवन्त' नहीं मानता तब उन्होंने उसका साथ त्यागने का निश्चय किया और सबको बतलाकर श्रीराम की शरण ली। भगवान् ने उन्हें भी अङ्गीकार किया।

माल्यवान् और शुक

रावण के पक्ष के अन्य लोग विभीषण की भाँति राम-दल में आकर मिले नहीं, परन्तु उनमें कुछ ऐसे अवश्य हैं जो श्रीराम का समर्थन करने के कारण रावण के कोपभाजन हुए थे। माल्यवान् और शुक को रावण का साथ छोड़ना पड़ा था। शुक तो राम को 'अखिल लोक कर नायक' मानता था। रावण के पादप्रहार करने पर वह राम की शरण भी गया

था। उनकी कृपा से उसको सद्गति प्राप्त हुई थी। उसने 'राम कृपा आपनि गति पाई' थी।

यद्यपि मन्दोदरी ने रावण का साथ नहीं छोड़ा, फिर भी उसने उसके सीतापहरण की सदा निन्दा की थी और उसको बार-बार समझाया था कि तुम श्रीरामचन्द्र का विरोध करने में समर्थ नहीं हो, तुम्हारा-उनका जोड़ नहीं, फिर क्यों व्यर्थ अपना सर्वनाश करते हो। जब राम के उन बाणों से रावण के छत्र और मुकुट तथा मन्दोदरी के ताटङ्क गिरे थे, जिनको कोई देख नहीं सका था, तब भयङ्कर अपशकुन समझ मन्दोदरी ने रावण से राम के 'विश्वरूप' का वर्णन किया था। इससे उसका राम के वास्तविक रूप से परिचित होना प्रकट है। इसी भाँति, उसने रावण के मारे जाने पर जो विलाप किया था उसमें भी राम को 'अग जग नाथ', 'स्वयं हरि' और 'निरामय ब्रह्म' स्वीकार किया था—

मन्दोदरी

जेहि नमत सिव ब्रह्मादि सुर पिय भजेहु नहिं करुनामयं।
तुम्हहू दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं।

कालनेमि और मारीच ने रावण से स्पष्ट शब्दों में राम की ईश्वरता घोषित की थी। परन्तु अपना परामर्श स्वीकार न करने पर भी उन्होंने उसके आदेश का पालन किया; फिर भी उनके मन में राम के ईश्वर होने का दृढ निश्चय बना रहा, और उनके हाथ से मुक्त होने की आशा से ही उन्होंने रावण के कथनानुसार आचरण किया।

अन्य राक्षस

सोते से जगाये जाने पर कुम्भकर्ण ने रावण को बहुत भला-बुरा कहा—तुमने सीता-हरण करके बहुत बुरा किया। अब भी अभिमान छोड़कर राम का भजन करो तुम्हारा कल्याण होगा। तुमने

कुम्भकर्ण

कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक, सिव बिरंचि सुर जाके सेवक।

परंतु अब तो समय बीत गया। इसलिए

अब भरि अङ्क भेटु मोहि भाई, लोचन सुफल करौं मैं जाई।

स्याम गात सरसीरुह लोचन, देखौं जाइ ताप त्रय मोचन।

ऐसा कहकर

राम रूप गुन सुमिरत मगन भयउ छन एक।

इस वर्णन से कुम्भकर्ण राम का पूरा भक्त विदित होता है। जब रणक्षेत्र में विभीषण उससे मिला था, तब उसने कहा था कि

बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर, भजेहु राम सोभा सुख सागर।

और अन्त में उसको भक्ति का फल यह मिला कि मरने पर

तासु तेज प्रभु बदन समाना।

मेघनाद ने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक युद्ध किया परन्तु मरते समय

रामानुज कहँ रामु कहँ, अस कहि छाँड़ेसि प्रान।

और

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं।

परन्तु मेघनाद तो ऐसे मुनियों से बढ़ गया। उसके मरती बार सब कपट त्यागने से ही भगवान् ने उसे सद्गति दी।

मेघनाद—खरदूषण

इसी तरह, खर-दूषण शूर्पणखा के भड़काने पर जब राम पर आक्रमण करने पहुँचे तब

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी, थकित भई रजनीचर धारी।

और उनकी सेना के सभी निशाचर भी

राम राम कहि तनु तजहिं, पावहिं पद निर्बान।

अन्त में, श्रीरामचन्द्रजी के प्रधान विरोधी और आमरण प्रबल शत्रु-भाव से परिपूर्ण रावण को ध्यानपूर्वक देखने पर उसे भी हृदय से राम का भक्त कहा जा सकता है। जिस समय

रावण

शूर्पणखा ने उसे खर-दूषण की असङ्ख्य सेना के संहार हो जाने का समाचार सुनाया और उससे अपने अपमान का

बदला लेने का आग्रह किया उस समय वह सबको समझा-बुझाकर चला तो गया, परन्तु रात में, अपने भवन में सोचने लगा कि

खर दूषन मो सम बलवन्ता, तिन्हहि को मारइ बिनु भगवन्ता।

इसलिए

सुर रञ्जन भञ्जन महि भारा, जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा।
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ, प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ।

क्योंकि

होइहि भजनु न तामस देहा, मन क्रम वचन मन्त्र दृढ एहा।

रावण ने इसी दृढ निश्चय के अनुसार राम से वैर किया और उसे अन्त तक निभाया। उसने राम के पुरुषार्थ को देखा और उनके असली रूप को समझा, पर अपनी बातों या अपने कर्मों से कभी प्रकट न होने दिया कि वह किसी प्रकार राम को श्रेष्ठता मानता था। यहाँ तक कि उसने अपने मुँह से कभी राम का नाम तक नहीं लिया। जब काम पड़ा तब उन्हें 'तापस', 'तपसी' आदि ही कहा। रावण राम को ही निरन्तर शत्रुभाव से स्मरण नहीं करता रहा, सीताजी का भी ध्यान सदा करता रहा। जब वह युद्ध में कई दिन मारा न जा सका तब सीताजी घबरा उठीं। नाना प्रकार से विलाप करने लगीं। त्रिजटा ने उन्हें समझाया कि वह सुरारि हृदय में बाण लगते ही मर जायगा, परन्तु

प्रभु ताते उर हतइ न तेही, एहि के हृदयँ बसति बैदेही।

किन्तु जब श्रीराम ने उसका संहार किया तब अन्त में उसने भी अपना कपट छोड़ दिया और राम का नाम लियाः—कहाँ रामु रन हतौं पचारी। इस वैर भाव से सतत स्मरण के फलस्वरूप ही तासु तेज समान प्रभु आनन। और खल मल धाम काम रत रावन ने गति पाई जो मुनिवर पाव न।

श्रीराम ने अपने समस्त शत्रुओं को भी वही गति दी जो भक्तों

५

को मिलती है। तभी इन्द्र के द्वारा अमृत की वर्षा होने पर केवल भालु कपि जी उठे थे, राक्षस नहीं जिये थे—जिये भालु कपि नहिं रजनीचर। कारण, रामाकार भये तिन्ह के मन। इसी से वे मुक्त भये छूटे भव बन्धन।

मानस की कथा में इन लोगों के अतिरिक्त कुछ दिव्य चरित्र भी आये हैं। उन सबने भी राम को ईश्वर माना है। पहले उनमें शिव को लीजिये। वे राम-तत्त्व के मर्मज्ञ और उसका उद्घाटन करने वालों के आदि आचार्य हैं। राम-जन्म के समय उन्होंने काकभुशुण्डि के साथ मनुज-रूप धारण कर अयोध्यापुरी में परमानन्द का अनुभव किया था। जिस समय शिव, ब्रह्मा, इन्द्र और अन्य देवता राम का ब्याह देखने के लिए जनकपुर पहुँचे थे उस समय वहाँ के वैभव, ठाट-बाट एवं रूप-निधान पुरुषों और स्त्रियों को देखकर वे भौंचक्के रह गये थे। ब्रह्मा को तो कहीं भी अपनी रचना नहीं दिखलायी पड़ी थी, इससे विशेष आश्चर्य हुआ था। यह सब देख कर

शिव

> शिव समुझाये देव सब, जनि आचरज भुलाहु।
> हृदय बिचारहु धीर धरि, सिय रघुबीर बिआहु।

इसके पश्चात् कवि ने खोल कर कहा कि—

> जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं, सकल अमङ्गल मूल नसाहीं।
> कर तल होहिं पदारथ चारी, तेइ सिय रामु कहेउ कामारी।

रावण-विजय के अनन्तर शिव ने राम की स्तुति की थी और कहा था कि

> भव बारिधि मन्दर परमं दर, बारय तारय संसृति दुस्तर।

आगे राज्याभिषेक हो जाने पर भी शिव ने राजाधिराज राम से विनय की थी कि

> तव नाम जपामि नमामि हरी, भव रोग महा गद मान अरी।
> गुन सील कृपा परमायतनं, प्रनमामि निरन्तर श्रीरमनं।

इस प्रकार शिव ने राम को संसार-सागर से उद्धार करने का साधन मान कर उनका नाम जपते रहने की घोषणा की थी।

राम के समर-विजय कर चुकने पर ब्रह्मा ने उनकी स्तुति करते हुए कहा था—

ब्रह्मा

अज व्यापकमेकमनादि सदा, करुनाकर राम नमामि मुदा।
गुन ग्यान निधान अमान अजं, नित राम नमामि विभुं विरजं।
भव तारन कारन काज परं, मन सम्भव दारुन दोष हरं।
नृपनायक दे वरदानमिदं, चरनाम्बुज प्रेम सदा सुभदं।

इसी समय इन्द्र ने राम की शरणागति की याचना इस प्रकार की थी—

इन्द्र

अब सुनहु दीन दायल, राजीव नयन विसाल।
मोहि रहा अति अभिमान, नहिं कोउ मोहि समान।
अब देखि प्रभु पदकञ्ज, गत मान प्रद दुख पुञ्ज।
कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।
मोहि भाव कोसल भूप, श्रीराम सगुन सरूप।
बैदेहि अनुज समेत, मम हृदयँ करहु निकेत।
मोहि जानिये निज दास, दे भक्ति रमा-निवास।

इसी विजय के अवसर पर देवताओं ने समवेत स्वर में राम की स्तुति की थी—

तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी, सदा एकरस सहज उदासी।
अकल अगुन अज अनघ अनामय, अजित अमोघ सक्ति करुनामय।
मीन कमठ सूकर नरहरी, बामन परसुराम बपु धरी।
जब जब नाथ सुरन दुख पायो, नाना तन धरि तुम्हइँ नसायो।

इन्हीं दिव्यात्माओं के साथ ही नारद ने पम्पा सरोवर के तट पर राम की स्तुति करके जो वरदान माँगा था उस पर भी ध्यान देना चाहिये। उन्होंने याचना की

नारद

थी कि

> जद्यपि प्रभु के नाम अनेका, श्रुति कह अधिक एक तें एका ।
> राम सकल नामन्ह ते अधिका, होउ नाथ अघ-खगगन बधिका ।
> राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम ।
> अपर नाम उडगन विमल, बसहु भगत-उर-व्योम ।

मानस में राम-कथा की समाप्ति भी नारद-कृत स्तुति से हुई है। उसमें भी मुनि के पृथ्वी के भार को उतारने वाले और कलिमल-मथन शोभा-सिन्धु राम का ध्यान करते हुए विधि-धाम जाने का उल्लेख हुआ है।

इससे भी राम की भक्ति का ही समर्थन होता है । इसी प्रसङ्ग में सदा ब्रह्मानन्द में लीन रहने वाले मुनिश्रेष्ठ सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार के द्वारा की गयी स्तुति भी राम की ईश्वरता का समर्थन करती है—

> जय भगवन्त अनन्त अनामय, अनघ अनेक एक करुनामय ।
> जय निर्गुन जय जय गुन सागर, सुख मन्दिर सुन्दर अति नागर ।
> सर्व सर्वगत सर्व उरालय, बससि सदा हम कहुँ प्रतिपालय ।
> द्वन्द विपति भव फन्द-विभञ्जय, हृदि बसि राम काम-मद गञ्जय ।

निष्कर्ष

ऊपर के विवरण से यह निश्चित हो जाता है कि *रामचरितमानस* में तुलसीदासजी ने परब्रह्म राम के अवतार की लीलाओं का गान किया । उन्होंने दाशरथि राम के नर-चरित्र में सर्वत्र उनकी दिव्य शक्ति की झलक दिखलायी ।

जिस प्रकार सभी नदियों का जल किसी न किसी मार्ग से होता हुआ अन्त में समुद्र में जाता है उसी प्रकार *रामचरितमानस* में सबकी गति श्रीरामचन्द्र हैं। *मानस* की कथा में वे ही परात्पर ब्रह्म हैं, सबसे समर्थ देवाधिदेव हैं—यह हम ऊपर दिखला चुके हैं । उसमें

उल्लिखित देवता भी उन्हीं के आश्रित हैं। वे सदा उन्हीं का मुँह देखा करते हैं। रावण के सामने वे ठहर नहीं सकते थे।

देवता

जब रावण ने स्वयं देव-लोक पर आक्रमण किया था तब देवन्द तके मेरुगिरि खोह—देवता अपने स्थान से भाग खड़े हुए। उन्होंने सुमेरु की गुफाओं में छिपकर रावण से अपने प्राण बचाये। रवि, शशी, पवन, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल और यम सभी उसके वशवर्ती हो गये। उधर पृथ्वी भी रावण के अत्याचार से ऊब गयी। वह देवताओं के पास सहायतार्थ पहुँची। उनसे कुछ न बन पड़ा। तब पृथ्वी को लेकर सभी सुरों, मुनियों और गन्धर्वों ने ब्रह्मा से प्रार्थना की। प्रचण्ड रावण से ब्रह्मा भी उन्हें बचा नहीं सकते थे। अतएव सबको समझाकर वे उन्हें 'प्रभु' की शरण में ले गये। शिव के परामर्श से सबने 'प्रभु' की सर्व-व्यापकता स्वीकार की। फिर ब्रह्मा ने अविनाशी, घट-घटवासी, व्यापक, परमानन्द श्रीभगवान को भयातुर मुनियों, सिद्धों तथा सकल सुरों की आर्तवाणी सुनायी। उसी समय भू-भार हरने के लिए कोशलपुरी में दशरथ-कौशल्या के घर अवतार लेने की ब्रह्मवाणी आकाश से सुनायी पड़ी। उसने देव-समुदाय को अभय किया।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि देवता राम को ही सर्वशक्तिमान समझते थे। इसी लिए मानस में सर्वत्र उन्हें राम के आश्रित दिखलाया गया है। वे सदा आकाश में आकर राम के कामों को देखकर नेत्र-लाभ किया करते थे। जिस समय रामचन्द्र जी विवाह-मण्डप में पधारे थे उस समय वहाँ ही धूम नहीं मची थी, आकाश में देवताओं के बीच भी आनन्द छाया हुआ था—नभ अरु नगर कोलाहल होई। अवसर आने पर देवतागण श्रीरामचन्द्र पर पुष्प-वर्षा भी किया करते थे—समय समय सुर बरषहिं फूला। इसी प्रकार युद्ध के समय भी देवता राम के कार्य-कलाप देखने

राम के आश्रित

के लिए आकाश में पहुँच जाया करते थे—

सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना, देखत रन नभ चढ़े बिमाना।

और जब राम युद्ध में रावण को मारने में कुछ विलम्ब करते जान पड़ते थे तब वे उनसे जो कुछ कहते थे वह कवि इस रूप में लिखते हैं—

इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही, दारुन बिपति हमहि एहि दीन्ही।
अब जनि राम खेलावहु एही, अतिसय दुखित होति बैदेही।

रामचन्द्रजी देव-वचन सुनकर मुसकरा दिये। उन्होंने झट धनुष-बाण सुधारा और विकट युद्ध आरम्भ किया। अन्त में जब रणभूमि को कँपाता हुआ रावण का धड़ धराशायी हुआ तब भी—

सुर सुमन बरषहिं हरष संकुल बाज दुन्दुभि गहगही।

जब राम सिंहासनासीन हुए थे तब भी

नभ दुन्दुभी बाजहिं बिपुल गन्धर्व किन्नर गावहीं।
नाचहिं अपछरा वृन्द परमानन्द सुर मुनि पावहीं।

कुछ लोग समझते हैं कि देवताओं की तुच्छता दिखाने के लिए ही गोस्वामीजी सदा ऐसे अवसरों की खोज में रहा करते थे जब वे रामचन्द्र की स्तुति करें, उन पर फूल बरसायें और उनके सुख और उल्लास का समय आने पर आकाश में नगाड़े बजायें तथा नाचें-गायें। वास्तव में तुलसीदास ने ऐसा करके कोई नयी बात नहीं की। उन्होंने जिन प्राचीन ग्रन्थों से राम की कथा ली थी उन सब में राम के प्रति उक्त प्रकार से ही देवताओं का व्यवहार दिखलाया गया है। स्वयं महर्षि वाल्मीकि के कथनानुसार भी देवता उपयुक्त अवसर में राम पर पुष्प-वर्षा करते थे। जब अहल्या का उद्धार हुआ और उसने राम का आतिथ्य-सत्कार किया तब

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुन्दुभिनिःस्वनैः।
गन्धर्वाप्सरसां चैव महानासीत्समुत्सवः॥

बाल०—४९।१९

अर्थात् जिस समय राम-लक्ष्मण ने पाद्य, अर्घ्य तथा अतिथि सत्कार को शास्त्रीय विधि के अनुसार ग्रहण किया उस समय देवताओं के नगाड़े की ध्वनि के साथ पुष्प-वर्षा हुई। गन्धर्व और अप्सराओं के घर (या मन में) भी बहुत बड़ा उत्सव हुआ।

अतएव एक तो गोस्वामीजी ने राम के प्रति देवताओं का आचरण परम्परा के अनुसार ही दिखलाया है, दूसरे ऐसा करके उन्होंने उनकी हेयता न दिखला कर वास्तव में, प्रकारान्तर से, राम की श्रेष्ठता और उनके द्वारा राम की पूजनीयता प्रदर्शित की है।

देवताओं के सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने कहीं कहीं ईर्ष्या, मात्सर्य आदि दुर्गुणों का भी उल्लेख किया है। जब राम युवराज पद पर नियुक्त होने को थे तब सारे अयोध्यावासी प्रसन्नता के मारे फूले न समा रहे थे, किन्तु बिघन मनावहिं देव कुचाली—कुचाली देवता मना रहे थे कि किसी प्रकार इस काम में विघ्न पड़ जाय। कारण, तिन्हहिं सुहाइ न अवध बधावा—उन्हें अयोध्या का यह उछाह अच्छा नहीं लगता था, जैसे, चोरहिं चाँदिनि राति न भावा। उन्होंने शारदा से बार-बार विनती की कि हे माता, ऐसा करो कि राम राज्य छोड़कर वन चले जायँ। शारदा उनका अनुरोध न टाल सकी, परन्तु वह यह कहती हुई गयी कि

ऊँच निवास नीच करतूती, देखि न सकहिं पराइ बिभूती।

जिस समय राम को मनाने के लिए भरत चित्रकूट जा रहे थे उस समय सुरेश ने

गुरु सन कहेउ करिय प्रभु सोई, रामहि भरतहि भेंट न होई।

उसकी यह नीचता देखकर गुरु बृहस्पति ने सहस्राक्ष को अन्धा समझा था और उससे अपने भक्त के प्रति राम का स्वभाव बतलाते हुए कहा था कि अस जिय जानि तजहु कुटिलाई! ऐसे ही, इन्द्र ने अवधवासियों के मन में उस समय उच्चाटन कर दिया था जिस समय वे राम से

विदा लेकर चित्रकूट से अयोध्या चलने लगे थे। तुलसीदासजी ने उस समय इन्द्र का परिचय यों दिया है—

कपट कुचालि सींव सुरराजू, पर अकाज प्रिय आपन काजू।
काक समान पाकरिपु रीती, छली मलीन कतहुँ न प्रतीती।

भले ही कवि ने लिखा हो कि इन्द्र की तो कुचालि सब कहँ भइ नीकी, किन्तु थी तो वह कुचाल ही। देवता स्वार्थ-साधन में रत रहते थे। उन्होंने राम को वनवास दिलाने का आयोजन किया; इन्द्र ने यह सोचा कि भरत राम से मिल ही न पावें और चित्रकूट में राम के समीप रहनेवाले अवधवासियों के मन में उच्चाटन उत्पन्न कर दिया। यह सब देवताओं और उनके नायक इन्द्र ने स्वार्थ में बाधा पड़ने की आशङ्का से किया। छल, कपट, कुचाल आदि करने में वे निम्न कोटि के मनुष्य के सदृश ही थे। उन्हें राम के महत्त्व के सामने अपने तुच्छ स्वभाव के प्रति ग्लानि भी हुई थी। रावण-वध के अनन्तर राम के पास आये देव सदा स्वारथी और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्होंने स्वीकार किया था—

उनकी तुच्छता दिखाने का कारण

हम देवता परम अधिकारी, स्वारथरत प्रभु-भगति बिसारी।
भव प्रवाह सन्तत हम परे, अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे।

अर्थात् देवताओं ने मान लिया कि परम अधिकारी होते हुए भी हम स्वार्थ-परायण हो गये हैं, आपकी भक्ति भुलाकर हम संसार के बहाव में बहे जा रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि देवता देवत्व-रहित तथा संसार के विषयों में लिप्त हो जाने से ही अशक्त हो गये थे। उन अशक्त देवताओं से विरक्त होकर लोग सर्व-समर्थ रघुनाथ राम की उपासना करें—इसलिए भी, जान पड़ता है, कवि ने उनके सम्बन्ध में 'नीच करतूती,' 'कुचाली,' सदा 'स्वारथी' आदि कटु शब्दों का प्रयोग किया था।

वहु-देवोपासना की असारता दिखलाते हुए रामोपासना की प्रतिष्ठा करना ही देवताओं की हेयता प्रकट करने का प्रयोजन हो सकता है। उन्होंने *विनय-पत्रिका* में इसे अपने लिए तो खोलकर कह दिया है कि—

रामोपासना की प्रतिष्ठा

दूसरो भरोसो नाहिं बासना उपासना को,
बासव, बिरंचि, सुर, नर, मुनि गन की।
स्वारथ के साथी, मेरे हाथ सों न लेवा-देइ,
काहू तो न पीर रघुबीर दीन जन की। ७५।

अस्तु, राम का जो आदर्श गोस्वामीजी को प्रस्तुत करना था उसकी पुष्टि के लिए ही उन्होंने देवताओं का उक्त रूप अङ्कित किया था। कहाँ राम की महानता और कहाँ देवताओं की तुच्छता! जैसे उनकी स्वार्थ-परता के कारण स्वयं तुलसी उनसे कोई प्रयोजन न रखकर राम के अनन्य उपासक थे वैसे ही *मानस* के श्रोता और वाचक भी हो जायँ—इसी से *मानस* में देवताओं का उक्त रूप दिखलाया गया है।

सिद्धान्त

गोस्वामीजी भारतीय धर्म की परम्परा के जानकार और पोषक थे। उनके *मानस* का उद्देश्य था कि उसके पालन में लोगों की प्रवृत्ति हो। इसी से उन्होंने उसमें 'श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति' का पथ प्रदर्शित किया है। उन्होंने जो कुछ स्वयं कहा अथवा *मानस* के किसी पात्र अथवा अधिकारी वक्ता से कहलाया वह इसी के अनुकूल है। उन्होंने राम-भक्ति का प्रतिपादन करते समय अध्यात्म-तत्त्व का जो निरूपण कराया है वह सर्वमान्य आर्य-सिद्धान्तों के अनुरूप है। उन्होंने कई स्थलों पर अध्यात्म-चर्चा के अवसर उपस्थित करके उन सिद्धान्तों का विवेचन कराया है। वे सिद्धान्त गोस्वामीजी को अमान्य नहीं कहे जा सकते, कारण वे श्रुति-सम्मत हैं, किन्तु हमें देखना

यह है कि उनमें कौन सा सिद्धान्त उनके विचार के अनुसार ग्राह्य और मान्य है।

उपनिषद् ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को मानते हैं। गोस्वामीजी भी कहते हैं—सगुन अगुन दोउ ब्रह्म सरूपा, और सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। ब्रह्म के तत्त्व का पूर्ण रूप से निरूपण करना असम्भव है। वेद 'उसका पार नहीं पाते। वह अनुभव का विषय है, वर्णन का नहीं। उसका साक्षात्कार मन को ही हो सकता है, वाणी से नहीं कराया जा सकता—कहि नित नेति निरूपहिं बेदा, निजानन्द निरुपाधि अनूपा। यही निरुपाधि ब्रह्म

भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहिं जग जाल।

तात्पर्य यह कि जो ब्रह्म

..............................अज अद्वैत अगुन हृदयेसा।
अकल अनीह अनाम अरूपा, अनुभव गम्य अखण्ड अनूपा।
मनगोतीत अमल अविनासी, निर्विकार निरवधि गुनरासी।

है वही देवताओं, भक्तों, पृथ्वी और गो-ब्राह्मण के हित सगुण हो जाता है और मनुष्य रूप में प्रकट होता है। शिव ने पार्वती से यही तो यों कहा था—

आदि अन्त कोउ जासु न पावा, मति अनुमानि निगम अस गावा।
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु करम करै बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा, ग्रहै घ्रान बिनु बास असेखा।
अस सब भाँति अलौकिक करनी, महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान।

अर्थात् ब्रह्म का आदि और अन्त कोई नहीं जानता, फिर भी अनुमानः

करके उनके विषय में वेद कहते हैं कि वह पैर के विना ही चलता है, हाथ के विना ही कर्म करता है, जिह्वा के विना ही रस ग्रहण करता और बोलता है, शरीर के विना ही स्पर्श करता है, नेत्र के विना ही देखता और नाक के विना ही घ्राण लेता है तथा उसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस ब्रह्म का वेद और बुद्धिमान जन इस प्रकार परिचय देते और मुनिजन ध्यान करते हैं वही भक्तों के लिए दशरथ-तनय हुआ।

योग और भोग का समन्वय करने वाले विदेह जनक ने विवाह के उपरान्त राम को विदा करते समय कहा था—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा, मुनि महेस मन मानस हंसा।
करहिं जोग जोगी जेहि लागी, कोहु मोहु ममता मद त्यागी।
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अविनासी, चिदानन्दु निरगुन गुनरासी।
मन समेत जेहि जान न बानी, तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।
महिमा निगमु नेति कहि कहई, जो तिहुँ काल एकरस रहई।

नयन विषय मो कहँ भयउ, सो समस्त सुखमूल।
सबइ लाभ जग जीव कहँ, भएँ ईस अनुकूल।

जनक के कहने का भी तात्पर्य यही है कि जो अलख ब्रह्म मन और वाणी के लिए अगोचर है, जिसके विषय में कोई तर्क नहीं किया जा सकता, केवल अनुमान किया जा सकता है, जो सदा एकरस रहता है—निर्विकार है, जिसकी प्राप्ति के लिए ही योगी जन योग-साधन करते हैं और जिसकी महिमा न वतला सकने के कारण वेद 'नेति' 'नेति'—अन्त नहीं है—कहा करते हैं वही राम हैं।

निर्विकार ब्रह्म ही नेत्रों का विषय हो जाता है, अवतार लेता है, फिर भी उसका पार नहीं मिलता। यही गोस्वामीजी का सिद्धान्त जान पड़ता है। मानस में यत्र-तत्र ऐसे वचन हैं जिनसे पण्डित विविध सम्प्रदायों में मान्य सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं और

गोस्वामीजी को उन सम्प्रदायों का अनुयायी सिद्ध करते हैं। कोई कहता है कि वे अद्वैतवादी थे। अद्वैतवाद के प्रवर्तक श्रीशङ्कराचार्य मानते हैं कि आत्मा और ब्रह्म एक रूप है—तत्त्वमसि, तथा जो गुण ब्रह्म के हैं वही आत्मा के हैं, जगत् मिथ्या है और वह माया के कारण सत्य प्रतीत होता है। शाङ्कर-सिद्धान्त के समर्थन के लिए *मानस* से अनेक उद्धरण दिये जाते हैं। उन सबको लेकर विस्तृत विवेचन के लिए यहाँ यथेष्ट स्थान नहीं। बानगी के रूप में केवल कुछ अवतरण दिये जायँगे।

पंचवटी में लक्ष्मण ने राम से पूछा—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया, कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया।
ईस्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहौ समुझाइ।

इसका उत्तर देते हुए श्रीराम ने कहा कि

मैं अरु मोर तोर तैं माया, जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई।
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ, बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा, जा बस जीव परा भवकूपा।
एक रचइ जग गुन बस जाकें, प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।
माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बन्ध मोच्छ प्रद सर्बपर, माया प्रेरक सीव।

यहाँ माया का यह अर्थ बतलाया गया कि मैं-मेरा, तू-तेरा अर्थात् अहंकार और ममता यह भेदबुद्धि माया के कारण होती है। मन और इन्द्रियों के जो विषय हैं वे सब माया हैं। माया के दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। अविद्या अत्यन्त दुष्ट और दुःखदायिनी है। उसी के वश में आकर जीव संसारी हो गया है, अपना ब्रह्मरूप भूल गया है। विद्या से संसार की रचना होती है। तीनों गुण—सत्त्व, रज, और तम—विद्या के वश में होते अवश्य हैं, किन्तु वह स्वतः कुछ नहीं कर सकती, प्रभु के बल से ही संसार की रचना करती है।

गोस्वामीजी को उन सम्प्रदायों का अनुयायी सिद्ध करते हैं। कोई कहता है कि वे अद्वैतवादी थे। अद्वैतवाद के प्रवर्तक श्रीशङ्कराचार्य मानते हैं कि आत्मा और ब्रह्म एक रूप है—तत्त्वमसि, तथा जो गुण ब्रह्म के हैं वही आत्मा के हैं, जगत् मिथ्या है और वह माया के कारण सत्य प्रतीत होता है। शाङ्कर-सिद्धान्त के समर्थन के लिए मानस से अनेक उद्धरण दिये जाते हैं। उन सबको लेकर विस्तृत विवेचन के लिए यहाँ यथेष्ट स्थान नहीं। बानगी के रूप में केवल कुछ अवतरण दिये जायँगे।

पंचवटी में लक्ष्मण ने राम से पूछा—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया, कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया।
ईस्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहौ समुझाइ।

इसका उत्तर देते हुए श्रीराम ने कहा कि

मैं अरु मोर तोर तैं माया, जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई।
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ, बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा, जा बस जीव परा भवकूपा।
एक रचइ जग गुन बस जाकें, प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।
माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बन्ध मोच्छ प्रद सर्बपर, माया प्रेरक सीव।

यहाँ माया का यह अर्थ बतलाया गया कि मैं-मेरा, तू-तेरा अर्थात् अहंकार और ममता यह भेदबुद्धि माया के कारण होती है। मन और इन्द्रियों के जो विषय हैं वे सब माया हैं। माया के दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। अविद्या अत्यन्त दुष्ट और दुःखदायिनी है। उसी के वश में आकर जीव संसारी हो गया है, अपना ब्रह्मरूप भूल गया है। विद्या से संसार की रचना होती है। तीनों गुण—सत्त्व, रज, और तम—विद्या के वश में होते अवश्य हैं, किन्तु वह स्वतः कुछ नहीं कर सकती, प्रभु के बल से ही संसार की रचना करती है।

गोस्वामीजी को उन सम्प्रदायों का अनुयायी सिद्ध करते हैं। कोई कहता है कि वे अद्वैतवादी थे। अद्वैतवाद के प्रवर्तक श्रीशङ्कराचार्य मानते हैं कि आत्मा और ब्रह्म एक रूप है—तत्त्वमसि, तथा जो गुण ब्रह्म के हैं वही आत्मा के हैं, जगत् मिथ्या है और वह माया के कारण सत्य प्रतीत होता है। शाङ्कर-सिद्धान्त के समर्थन के लिए मानस से अनेक उद्धरण दिये जाते हैं। उन सबको लेकर विस्तृत विवेचन के लिए यहाँ यथेष्ट स्थान नहीं। वानगी के रूप में केवल कुछ अवतरण दिये जायँगे।

पंचवटी में लक्ष्मण ने राम से पूछा—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया, कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया।
ईस्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहौ समुझाइ।

इसका उत्तर देते हुए श्रीराम ने कहा कि

मैं अरु मोर तोर तैं माया, जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई।
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ, बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा, जा बस जीव परा भवकूपा।
एक रचइ जग गुन बस जाकें, प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।
माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बन्ध मोच्छ प्रद सर्वपर, माया प्रेरक सीव।

यहाँ माया का यह अर्थ बतलाया गया कि मैं-मेरा, तू-तेरा अर्थात् अहंकार और ममता यह भेदबुद्धि माया के कारण होती है। मन और इन्द्रियों के जो विषय हैं वे सब माया हैं। माया के दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। अविद्या अत्यन्त दुष्ट और दुःखदायिनी है। उसी के वश में आकर जीव संसारी हो गया है, अपना ब्रह्मरूप भूल गया है। विद्या से संसार की रचना होती है। तीनों गुण—सत्त्व, रज, और तम—विद्या के वश में होते अवश्य हैं, किन्तु वह स्वतः कुछ नहीं कर सकती, प्रभु के बल से ही संसार की रचना करती है।

इसी प्रकार काकभुशुण्डि ने गरुड से कहा था कि

ग्यान अखण्ड एक सीताबर, माया बस्य जीव सचराचर।
जौं सब के रह ग्यान एक रस, ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस।
माया बस्य जीव अभिमानी, ईसबस्य माया गुनखानी।
पर बस जीव स्वबस भगवन्ता, जीव अनेक एक श्रीकन्ता।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया, बिनु हरि जाय न कोटि उपाया।

श्रीराम ने काकभुशुण्डि को वरदान दे चुकने पर 'निज सिद्धान्त' सुनाते हुए कहा था—

मम माया सम्भव संसारा, जीव चराचर बिबिध प्रकारा।

कुछ विद्वान् उक्त तथा कुछ अन्य अर्द्धालियों से मानस में अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।

अद्वैतवाद के प्रतिष्ठित विद्वान् मधुसूदन सरस्वती गोस्वामीजी को बहुत मानते थे। उन्होंने उनकी प्रशंसा में जो श्लोक लिखा था वह यथास्थान (पृ० १७ पर) उद्धृत किया जा चुका है। निश्चय ही दोनों महापुरुष एक दूसरे से मिलते और शास्त्र-चर्चा किया करते होंगे। सम्भव है मधुसूदन सरस्वती के विचारों का प्रभाव भी गोस्वामीजी के मन पर पड़ा हो। फलतः उन्होंने अद्वैतवाद के पोषक कुछ सिद्धान्त स्वयं राम तथा भक्त शिरोमणि काकभुशुण्डि जैसे अधिकारियों के मुँह से कहला दिये हों।

कुछ अन्य विद्वान् गोस्वामीजी को रामानन्दजी की शिष्य-परम्परा में गिनते और उनकी रामोपासना को विशिष्टाद्वैत मत के अनुकूल सिद्ध करते हैं। विशिष्टाद्वैत मत के प्रमुख आचार्य श्रीरामानुज ने चित्, अचित् और ईश्वर ये तीन पदार्थ माने हैं। उन्होंने जीव को चित्, जगत् को अचित् और सर्वान्तर्यामी को ईश्वर कहा है। जीव और जगत् नित्य होते हुए भी ईश्वर के अधीन हैं। जीव सच्चिदानन्द स्वरूप और ईश्वर का अंश है। जीव परस्पर भिन्न और अनन्त हैं।

जगत् का कारण अर्थात् ईश्वर जगत् की रचना का निमित्त है। यथा:

जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।

विशिष्टाद्वैत मत में माना जाता है कि भक्तों पर अनुग्रह करने और जगत् की रक्षा के लिए ईश्वर पाँच प्रकार के रूप धारण किया करता है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार।

भगत, भूमि, भूसुर, सुरभि, सुर हित लागि कृपालु राम के अवतार का गुणगान ही तो *मानस* का विषय है। आकाशवाणी के द्वारा 'प्रभु' ने सूचित भी किया था कि

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा, तुम्हहि लागि धरिहौं नर वेसा।
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा, लेहउँ दिनकर वंस उदारा।
नारद बचन सत्य सब करिहउँ, परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।

इस प्रकार जिन देवताओं ने बनचर देह धरी छिति माहीं, उन तथा भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और आदिशक्ति जानकी से वेष्टित राम ईश्वर के 'पर' रूप हैं। भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न उनके 'व्यूह' हैं; अवतार 'विभव' कहे जाते हैं, जिसके दो भेद हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् अवतार मुख्य और आवेशावतार गौण कहलाते हैं। यहाँ राम साक्षात् अवतार हैं। स्वर्ग, नरक आदि सर्वत्र हृदय में सुहृद् भाव से स्थित भगवान् का स्वरूप अन्तर्यामी कहा जाता है। *मानस* में इसका उल्लेख यों हुआ है—

व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी, सत चेतन घन आनँदरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी, सकल जीव जग दीन दुखारी।

अर्चावतार—देश-काल की उत्कृष्टता से रहित, आश्रित के इच्छानुसार, अर्चा करनेवाले के सभी अपराधों को क्षमा करनेवाले, दिव्य देहधारी, षड् ऐश्वर्य से युक्त, गृह, ग्राम, नगर, प्रदेश और पर्वत आदि में विद्यमान तथा अपने सभी कृत्यों में अर्चना करने

वाले की अधीनता मानने वाले मूर्तधारी को अर्चावतार कहते हैं॥। मानस में इस अर्चावतार की भी प्रतिष्ठा की गयी है। यथा,

नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदयँ समाति।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् *मानस* में अपने सम्प्रदाय की सभी बातों का समावेश करते हैं।

मानसकार का मत

ऊपर के विवेचन से यह तो विदित हो ही जाता है कि सम्प्रदाय-भावना से प्रेरित विद्वानों के विचारों के समर्थन की सामग्री जैसे *ब्रह्मसूत्र* और *गीता* में है, वैसे ही *मानस* में भी विद्यमान है। अतएव जैसे *ब्रह्मसूत्र* और *गीता* विविध सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के आधार और पोषक ग्रन्थ हैं वैसे ही *मानस* को भी समझना चाहिये। इसमें इन मतों में प्रतिपादित सिद्धान्त ढूँढ़कर निकाले जा सकते हैं। *मानस* में अद्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद की झलक भले ही देखी जाय, किन्तु गोस्वामीजी को इनका अथवा अन्य किसी सम्प्रदाय का अनुयायी समझना उचित नहीं प्रतीत होता। जैसा *मानस* के ऊपर उद्धृत अंशों से सूचित होता है, वे उस निरुपाधि ब्रह्म के पुजारी थे जिसे वेदों में नेति कहा गया है, अर्थात् जिसका रूप मन और वाणी के लिए अगोचर है, किन्तु जो भक्त और लोक के कल्याण के लिए राम के रूप में अवतरित हुआ था। गोस्वामीजी का यही सिद्धान्त *मानस* में सर्वत्र प्रदर्शित हुआ भी है। *विनय-पत्रिका* में यह और भी खुल गया है। वे कहते हैं—

छ नत विमत, न पुरान मत, एक मत,
नेति नेति नेति नित निगम कहत।
औरनि की कहा चली ? एकै बात भलै भली,
राम-नाम लिये तुलसी हूँ से तरत। (२५१)

॥ वैष्णवमताब्जभास्कर।

तात्पर्य यह कि छओं शास्त्रों के सिद्धान्त एक-दूसरे से भिन्न हैं, अठारहो पुराण भी एक-सी नहीं कहते और वेद तो कुछ कहते ही नहीं, बस 'नेति' कह कर चुप हो जाते हैं। (इस प्रकार जब शास्त्र, पुराण और वेद ही ईश्वर के निश्चित रूप का ठीक बोध नहीं करा सकते) तब औरों की शक्ति ही क्या ? (दूसरे ईश्वर के विषय में बतला ही क्या सकते हैं ?) मेरी समझ में तो एक ही बात अच्छी लगती है । वह यह कि तुलसी सरीखे लोग भी राम-नाम लेने से (संसार से) मुक्त हो जाते हैं।

गोस्वामीजी ने शास्त्र, पुराण आदि में वर्णित किसी सिद्धान्त की निन्दा करके उसके प्रति अश्रद्धा नहीं उत्पन्न की, किन्तु उन्होंने खुलकर कह दिया है कि उनमें अभिव्यक्त विचार सामान्य जन के लिए स्पष्ट नहीं हैं। इसी से उन्होंने साम्प्रदायिक ढङ्ग से प्रतिपादित उसके रूप को स्वीकार भी नहीं किया। वे कह गये हैं कि—

बहु मत सुनि बहु पन्थ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लागत राज-डगरो सो।
विनय०। १७३।

इससे प्रकट होता है कि उन्होंने विविध मतों और सम्प्रदायों के सिद्धान्त जानने और पुराणों के अध्ययन और विवेचन के पश्चात् यही निश्चय किया कि उन सब में परस्पर विरोध और झगड़ा ही झगड़ा है। उनके मत से तो राज-मार्ग के समान राम का भजन ही सर्व साधारण के लिए सुगम और सुलभ धर्म है। यही धर्म है जिसका उपदेश उन्हें गुरु से मिला था । गुरु के मुख से बार-बार राम-कथा सुनने का उल्लेख उन्होंने *मानस* की कथा की परम्परा का उल्लेख करते समय *मानस* में किया भी है।

अपना यह विचार उन्होंने *विनय-पत्रिका* में अन्यत्र भी व्यक्त

किया है। वे कहते हैं—

> करम, उपासन, ग्यान, बेदमत सो सब भाँति खरो।
> मोहिं तो सावन के अन्धहि ज्यों सूझत रंग हरो।
> प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
> मेरे तो माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो।
>
> (२२६)

यह सच है कि कर्म, ज्ञान और उपासना वैदिक मत हैं। ये सभी ठीक हैं, परन्तु जैसे सावन के अन्धे को सर्वत्र हरा-हरा ही दिखलायी पड़ता है वैसे ही तुलसी के लिए राम नाम के दो अक्षर ही सर्वस्व थे। उन्हें उन्होंने उसी दृढता से पकड़ लिया था जिस दृढता से बालक किसी वस्तु को लेकर अड़ जाता है। जिस प्रकार बच्चा अपनी पकड़ी हुई वस्तु को छोड़ने के लिए किसी प्रकार भी उद्यत नहीं होता, चाहे उसे बदले में उससे बढ़िया वस्तु ही क्यों न दी जाय, उसी प्रकार तुलसीदास भी किसी भी सम्प्रदाय या विचार के बदले में राम-भक्ति का विनिमय नहीं करना चाहते थे। इसी से उन्होंने खुलकर कह दिया है कि

> ग्यान भक्ति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं।
> तुलसिदास हरि-कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं।
>
> विनय० ।११६।

इसी लिए उन्होंने यह प्रार्थना की थी—

> यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
> और आस बिस्वास भरोसो, हरौ जीव जड़ताई।
>
> विनय० । १०३ ।

दोहावली में उनका यह दृढ विश्वास इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

> एक भरोसो, एक बल, एक आस, बिस्वास।
> एक राम-घनस्याम हित, चातक-तुलसीदास।

तभी उन्होंने वेद-वर्णित सभी उपायों और पुराण-कथित अन्य सभी देवताओं को छोड़कर एकमात्र राम को इस प्रकार आत्म-समर्पण कर दिया था—

हैं स्तुति विदित उपाय, सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास यहि जीव मोह रजु, जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।

विनय० ।१०२।

और स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया था कि

देस काल पूरन सदा, बद वेद-पुरान।
सबको प्रभु सब में बसै, सबकी गति जान।
को करि कोटिक कामना, पूजै बहु देव।
तुलसिदास तेहि सेइये, सङ्कर जेहि सेव।

विनय० ।१०७।

विनय-पत्रिका ही नहीं, गोस्वामीजी के अन्य ग्रन्थ भी उनके इन्हीं विचारों के पोषक हैं। इससे उनको किसी सम्प्रदाय की बँधी हुई सीमा के भीतर घेरे रखना उचित नहीं। वे तो किसी सँकरी गली पर न चलकर राज-मार्ग पर चलते थे।

साम्प्रदायिकता से परे

उन्होंने *मानस* में कलियुग में कल्पहिं पन्थ अनेक कहकर नये-नये सम्प्रदाय चलाने वालों के द्वारा होने वाले अनिष्टों का सङ्केत किया था, फिर भला वे स्वयं कैसे किसी सम्प्रदाय विशेष की अनुदार और सङ्कुचित दृष्टि से देख सकते थे? क्या अब भी उनके सिद्धान्त को स्वीकार करने में आनाकानी होगी? उचित तो यही है कि उनका ही कहना माना जाय। *विनय-पत्रिका* में प्रसिद्ध पद है केसव कहि न जाय का कहिये। उसमें सृष्टि के रचना-चातुर्य का दार्शनिक ढङ्ग से वर्णन किया गया है। उसी में कहा गया है कि

कोउ कह झूठ, सत्य कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै।

अर्थात् केशव की विभिन्न सृष्टि-रचना को कोई सत्य समझता है, कोई मिथ्या और कोई उसमें सत्य और मिथ्या दोनों का मिश्रण पाता है। कहने का अभिप्राय यह कि अद्वैतवादी इस संसार को मिथ्या अथवा कोरा भ्रम समझते हैं। वे ब्रह्म की सत्ता और उसी में जगत् का आभास मानते हैं। जैसे रस्सी को साँप समझ लिया जाता है, परन्तु वह साँप नहीं होती, वैसे ही जगत् भी ब्रह्म की माया के कारण सत्य समझ पड़ता है, परन्तु सत्य होता नहीं। ज्ञान हो जाने पर वह माया दूर हो जाती है और जगत् की असारता प्रकट हो जाती है। विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत सिद्धान्त माननेवाले जगत् को सत्य मानते हैं। द्वैताद्वैतवादी उसको सत्य और असत्य दोनों मानते हैं। परन्तु तुलसीदास इन तीनों सिद्धान्तों को भ्रम समझते और कहते हैं कि जो इन तीनों को भ्रमपूर्ण समझ कर राम की शरण में आवेगा, वही आत्मज्ञानी होगा, अपने को समझ सकेगा। अस्तु।

हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि तुलसीदास वेदों में 'नेति' कह कर निरूपित ब्रह्म के सगुण रूप राम के ही उपासक थे। तभी उन्होंने सुमति द्वारा ध्रुव को दी हुई शिक्षा को आदर्श माना है और कहा है कि

इहै कह्यो सुत बेद चहूँ।
श्री रघुबीर चरन चिन्तन तजि नाहिन ठौर कहूँ।

—विनय० । ८६ ।

ज्ञान और भक्ति का समन्वय

उपर्युक्त विवेचन से गोस्वामी तुलसीदास का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। वे राम-भक्ति को ही एकमात्र साध्य मानते थे। काकभुशुण्डि के द्वारा उनका यह विश्वास सूचित होता है कि

कलियुग जोग न जग्य न ग्याना, एक अधार राम गुन गाना।

सब भरोस तजि जो भज रामहि, प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि।
सोइ भव तर कछु संशय नाहीं, नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।
कलिजुग सम जुग आन नहिं, जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल, भव तर बिनहिं प्रयास।

इसी लिए उन्होंने लिख दिया कि

बेद पुरान सन्त मत एहू, सकल सुकृत फल राम-सनेहू।
राम नाम कलि अभिमत दाता, हित परलोक लोक पितु माता।
नहिं कलि करम न भगति बिवेकू, राम नाम अवलम्बन एकू।

अतएव उन्होंने *मानस* में राम-भक्ति का प्रतिपादन किया—यह हम देख चुके हैं। गोस्वामीजी राम के अनन्य भक्त अवश्य थे, किन्तु, जैसा कहा जा चुका है, वे वेद-शास्त्र के द्वारा प्रवर्त्तित आध्यात्मिक विचारों से विरोध नहीं मानते थे। इसलिए उन्होंने ज्ञान-मार्ग की निन्दा नहीं की। हाँ, एक काम अवश्य किया। जिन दिनों उनका आविर्भाव हुआ था उन दिनों उनके कार्य-क्षेत्र में सर्वत्र निर्गुण उपासना का बोलबाला था। इसी से सभी सगुणोपासक भक्तों को सर्व साधारण के लिए निर्गुणोपासना की अव्यावहारिकता, जटिलता और कठिनता प्रदर्शित करनी पड़ी। तभी कृष्ण-भक्त सूर और नन्ददास आदि ने भ्रमरगीत के प्रेम-प्रसङ्ग में भी ज्ञानमार्ग का खण्डन तथा भक्तिमार्ग का मण्डन किया। इसी से *श्रीमद्भागवत* के भ्रमरगीत में उद्धव-गोपी-मिलन के प्रेम और विरह का जैसा शुद्ध निदर्शन है वैसा सूर और नन्ददास के भ्रमर-गीतों में नहीं है। वे तो ज्ञान और भक्ति का विवाद बन गये हैं। ऐसे ही, गोस्वामी तुलसीदास ने मिथ्या ज्ञान के अभिमान के कारण उत्पन्न मोह रूपी मानसिक अन्धकार को दूर करने के लिए ही दिनकर की किरणों के समान राम के गुण-ग्राम का वर्णन किया—हरन मोहतम दिनकर कर से। तुलसीकृत इस भक्ति-निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें ज्ञान की महत्ता स्वीकृत हुई है, साथ ही यह

बतलाया गया है कि वह सुगम न होने से अव्यवहार्य है। इस प्रकार ज्ञान की अप्रतिष्ठा नहीं हुई, किन्तु भक्ति की प्रतिष्ठा की गयी है—पायेहु ग्यान भगति नहिं तजहीं। गोस्वामीजी ने यह काम कोरे उपदेशक के रूप में नहीं किया। सच्चे और श्रेष्ठ कवि होने के कारण उन्होंने आख्यान के बीच में ही भक्ति और ज्ञान का परस्पर सम्बन्ध और दोनों का सापेक्ष्य महत्त्व दिखलाया है। जब राम ने काकभुशुण्डि से वरदान माँगने को कहा कि

ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना, मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।
आजु देउँ सब संसय नाहीं, माँगु जो तोहि भाव मन माहीं।

तब भुशुण्डि ने जो सोचा वह ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं—

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ, मन अनुमान करन तब लागेउँ।
प्रभु कह देन सकल सुख सही, भगति आपनी देन न कही।
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे, लवन बिना बहु बिंजन जैसे।

यह सोचकर भुशुण्डि ने यह वरदान माँगा—

अबिरल भगति बिशुद्ध तव, स्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव।
भगत कल्पतरु प्रनत हित, कृपा सिन्धु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहिं प्रभु, देहु दया करि राम।

इस विवरण से यह प्रकट है कि काकभुशुण्डि की समझ में भक्ति के बिना सब गुण और सुख व्यर्थ हैं और उसके सामने ज्ञान नीरस है। आगे चलकर रामचन्द्र ने भुशुण्डि के इच्छानुसार 'एवमस्तु' कहा, उसकी चतुराई पर प्रसन्नता प्रकट की और फिर कहा—

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें, सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें।
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा, जोग चरित्र रहस्य बिभागा।
जानब तैं सबही कर भेदा, मम प्रसाद नहिं साधन खेदा।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि काकभुशुण्डि को भक्ति के साथ

ही ज्ञान-विज्ञान का रहस्य भी प्राप्त हुआ। अतएव यह स्पष्ट है कि भक्ति और ज्ञान में परस्पर विरोध नहीं। हाँ, ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ अवश्य है। यह बात श्रीराम ने भुशुण्डि से और भी खुले शब्दों में कही थी—

मम माया सम्भव संसारा, जीव चराचर विविध प्रकारा।
सब मम प्रिय सब मम उपजाये, सब ते अधिक मनुज मोहि भाये।
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ स्रुतिधारी, तिन्ह महँ निगम धरम अनुसारी।
तिन्ह महँ प्रिय विरक्त पुनि ग्यानी, ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी।
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा, जेहि गति मोर न दूसर आसा।

श्रीमुख से कही गयी इस उक्ति में सृष्टि के प्राणियों में मनुष्य को लिया गया है और उसे सापेक्ष्य दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। मनुष्यों में भी ब्राह्मण को, ब्राह्मणों में वेदज्ञ को, वेदज्ञ ब्राह्मणों में वैदिक धर्म के अनुयायी को, वैदिक धर्माचारियों में विरक्त को, विरक्तों में ज्ञानी को, ज्ञानियों में विज्ञानी को और विज्ञानियों में भी भक्त को भगवान को प्रिय कहा गया है। इस प्रकार भक्त को ज्ञानी से ऊपर स्थान मिला है।

ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता उस समय भी प्रकट हुई थी जिस समय लोमश ऋषि के निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश की उपेक्षा करके अभिशप्त ब्राह्मण-कुमार ने काकभुशुण्डि हो जाने में हर्ष का ही अनुभव किया था और फिर उन्हीं से राम के बाल-रूप के ध्यान की विधि और राम-मन्त्र की प्राप्ति की थी।

काकभुशुण्डि ने गरुड के पूछने पर ज्ञान और भक्ति का जो अन्तर बतलाया था उसमें इनके विषय में गोस्वामीजी के ही विचार निहित जान पड़ते हैं। काकभुशुण्डि ने तुरन्त कह दिया था कि

भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा, उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।

अर्थात् ज्ञान और भक्ति दोनों ही जीव को संसार के

आवागमन से मुक्त करने के साधन हैं। उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसके अनन्तर काकभुशुण्डि ने मुनीशों के विचार बतलाये कि ज्ञान, विज्ञान, योग और वैराग्य पुरुषवत् हैं। माया को नारी समझो। पुरुष नारी पर मोहित होकर अपने को भूल जाता है। ज्ञान विज्ञान आदि माया के चक्कर में आ जाते हैं। परन्तु भक्ति भी नारी है। वह रघुवीर की प्रिया है और माया नर्तकी ठहरी। नारी के ऊपर नारी मोहित नहीं होती है। अतएव भक्ति माया के मोह-जाल में नहीं फँस सकती। फिर राम तो भक्ति के अनुकूल रहते हैं। इससे माया उससे डरती भी रहती है। अतएव जिसके हृदय में भक्ति रहती है उसे देखकर माया सकुचा जाती है और उस पर अपनी प्रभुता नहीं दिखला सकती*। इस प्रकार ज्ञानी को माया के भुलावे में आजाने की आशङ्का बराबर बनी रहती है, किन्तु भगवत्कृपा से भक्त को उसका भय नहीं रहता। स्वयं भगवान् ने नारद से कहा था कि

सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा, भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।
करौं सदा तिन्हकै रखवारी, जिमि बालक राखै महतारी।
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी, बालक सम सुत दास अमानी।
जनहिं मोर बल, निज बल ताही, दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।
यह बिचारि पण्डित मोहि भजहीं, पायेहु ग्यान भगति नहिं तजहीं।

अस्तु, यह खुल गया कि भक्ति से असात्त्विक, निरभिमान, सारल्य आने के कारण भगवदर्पण बुद्धि सहज ही उत्पन्न हो जाती है, और ज्ञान से अभिमान, अहंभाव और आत्म-निर्भरता आती है, जिससे मनुष्य ईश्वर को भूल भी सकता है। तभी भक्त की चिन्ता भगवान् को रहती है, किन्तु ज्ञानी की देख-रेख करनेवाला कोई दूसरा नहीं होता, वह स्वयं ही अपनी देखभाल करता रहता है।

---

*रामचरितमानस। सप्तम सोपान। ११५-११६।

"ज्ञान-मार्ग में विघ्न भी बहुत होते हैं। जीव ईश्वरांश होते हुए भी माया के कारण अपना चेतन रूप भूल जाता है। उसमें जडत्व आ जाता है। यद्यपि जडता मिथ्या होती है फिर भी उससे छुटकारा पाने के लिए वेदों और पुराणों में जो उपाय बतलाये गये हैं उनसे उस जडता रूपी गाँठ का सुलझना तो दूर रहा, वह अधिकाधिक उलझती ही जाती है। अज्ञान के अन्धकार में पड़ा जीव उस गाँठ के खोलने में असमर्थ हो जाता है। कभी भगवान् की कृपा से मन में सात्विक श्रद्धा का प्रादुर्भाव होता है। जप, तप, व्रत, यम, नियम आदि का पालन होता है। इसके फलस्वरूप हृदय में सद्भाव उत्पन्न होते हैं। तब लौकिक विषयों से मन हट जाता है। इससे मन निर्मल हो जाता है। फिर धर्म का उदय होता है। उस पर निष्काम रूप से आचरण किया जाता है। फलतः सन्तोष, क्षमा, धैर्य, मुदिता* दम और सत्य के द्वारा वैराग्य उपलब्ध होता है। तब शुभ और अशुभ कर्मों को त्यागकर योग के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। उससे ममता मिट जाती है। इससे विज्ञान होता है। तदनन्तर चित्त में समता लायी जाय। फिर जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण निकालकर तुरीयावस्था की उपलब्धि हो। इस अवस्था के आने पर मद आदि पास न फटक सकेंगे। पास आते ही वे स्वयं नष्ट हो जायँगे। तुरीयावस्था में सोऽहम् वृत्ति का प्रकाश होगा। उस प्रकाश से आत्म-बोध होगा, जिससे मैं-तू, ईश्वर-जीव आदि भेद-भाव मिट जायँगे। अविद्या के साथी मोह आदि अन्धकार इस आत्मज्योति के उदय होते ही दूर हो जाते हैं। इसी के प्रकाश में बुद्धि उस अज्ञान की गाँठ को सुलझाती है। जब गाँठ खुल जाती है

---

* योग शास्त्र के अनुसार चित्त की वह वृत्ति जिसमें किसी को पुण्य करते देख मनुष्य को स्वयं अधिक प्रसन्नता होती है।

तभी जीव कृतार्थ होता है। आत्मबोध की इस दशा में बड़ी बाधाएँ पड़ती हैं। यौगिक शक्तियों के उत्पन्न होने पर ऋद्धि-सिद्धि आती हैं। उनकी ओर मन नहीं जाता, तब विविध इन्द्रियों के विषय घेरते हैं। इनसे आत्मज्योति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार जीव फिर माया के फन्दे में फँस जाता है*।" यह है *मानस* में कथित ढङ्ग से ज्ञान का दुरूह असिधारा मार्ग। बड़ी कठिनाइयों को झेलने के अनन्तर ही कहीं इसका अन्त होता है। तब कैवल्य उपलब्ध होता है।

इस दुस्तर ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्ति का साधन कहीं सुगम है। भक्ति भगवत्कृपा से प्राप्त होती है। "उस पर मोह, लोभ, काम आदि का प्रभाव नहीं पड़ता। उसके आते ही अविद्या दूर हो जाती है।" अतएव ज्ञान के समान भक्ति कष्ट-साध्य नहीं है। इसी से गोस्वामीजी ने काकभुशुण्डि से कहलाया है कि जो इस रामभक्ति रूपी चिन्तामणि की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं वे चतुरों में शिरोमणि हैं—

चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं, जे मनि लागि सुजतन कराहीं।

"वेद-पुराण में राम-कथा का भाण्डार है। उसमें सज्जन सुमति की सहायता से, ज्ञान और विज्ञान के द्वारा भाव-पूर्वक उस भक्ति को खोजते हैं। तब वह सरलता से मिल जाती है†।"

मानस के सातवें सोपान में काकभुशुण्डि ने ज्ञान-दीपक और भक्ति-चिन्तामणि के विशद परम्परित रूपकों के द्वारा ज्ञान और भक्ति मार्ग के अन्त तक पहुँचने का स्पष्ट चित्र अङ्कित किया है। उन्हीं रूपकों का आलङ्कारिक रूप हटाकर साधन की प्रणाली का वर्णन ऊपर थोड़े में कर दिया गया है। इसमें गोस्वामीजी के प्रतिपादित भक्ति-मार्ग की सुगमता स्पष्ट दिखलायी पड़ती है। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का मार्ग

* *रामचरितमानस*। सप्तम सोपान। ११७-११९।

† *रामचरितमानस*। सप्तम सोपान। १२०।

सरल है, परन्तु इन दोनों का लक्ष्य एक ही है—उभय हरहिं भव सम्भव खेदा। इससे दोनों में कोई भेद न समझना चाहिये—यही गोस्वामीजी के विचार थे। उन्होंने *विनय-पत्रिका* में तो इन दोनों का ऐसा सुन्दर गठबन्धन कर दिया है कि देखते ही बनता है। वे संसार सागर में डूबने से बचाने के लिए कर-कमल का सहारा माँगते हुए कमला-रमण से कहते हैं कि—

ग्यान-अवधेस गृह गेहिनी भक्ति सुभ तत्र अवतार भूभार-हरता।
।५८।

अर्थात् जिस प्रकार आपने अवधेश दशरथ की गृहिणी कौशल्या के गर्भ से अवतार लिया था उसी प्रकार अब ज्ञान के क्षेत्र में भक्ति के द्वारा प्रकट हों। इस प्रकार ज्ञान और भक्ति का चिर सम्बन्ध स्थापित कर गोस्वाजीजी ने अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया और अध्यात्म सम्बन्धी भारतीय विचारों में ऐक्य स्थापित किया।

नवधा भक्ति प्रसिद्ध ही है—

श्रवणं कीर्तनं चैव स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।

भक्ति का स्वरूप

गोस्वामीजी ने भक्ति के इन भेदों में कुछ परिवर्तन करके श्रीराम के द्वारा शबरी से 'नवधा भक्ति' का यह रूप कहलाया था—

प्रथम भगति सन्तन्ह कर सङ्गा, दूसरी रति मम कथा प्रसङ्गा।
गुरुपद पङ्कज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करइ कपट तजि गान।
मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा, पञ्चम भजन सो वेद प्रकासा।
छठ दम सील बिरति बहु करमा, निरत निरन्तर सज्जन धरमा।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा, मोतें अधिक सन्त कर लेखा।

आठवँ जथा लाभ सन्तोषा, सपनेहु नहिं देखइ परदोषा।
नवम सरल सब सन छल हीना, मन भरोस हिय हरष न दीना।

यदि ध्यान से देखा जाय तो भक्ति के ये रूप भक्त के मानसिक और आध्यात्मिक विकास के नौ सोपान हैं, जिन पर चढ़ता हुआ वह आत्मोन्नति के उच्च लक्ष्य तक पहुँच सकता है। सन्तों के सत्सङ्ग से मन भगवान की ओर झुकता है। फलस्वरूप भगवान की कथा के प्रति सम्मानभाव और बाद में प्रेम का उदय होता है। इसके अनन्तर साधक निरभिमान होकर गुरु की सेवा में लगता और उसके द्वारा भगवत्तत्त्व प्राप्त करता है। भगवान् का तत्त्व जान जाने पर भक्त उसके गुणों का कीर्त्तन करने लगता है। इस प्रकार उसकी वाणी पवित्र होती है और उसके मन पर भगवदीय संस्कार जम जाते हैं। तब उसका विश्वास दृढ हो जाता है और वह मन्त्र जाप तथा भजन में लग जाता है। अब उसके आचरण में भक्ति ढल जाती है। उसका मन नाना कर्मों से हट जाता है। वह सज्जनोचित कर्मों में ही लगा रहता है। तदनन्तर उसे सर्वत्र प्रभु की व्याप्ति का अनुभव होने लगता है। भक्त आपा मिटाकर सर्वत्र अपने प्रभु को ही देखता है। उसे सब जग सीयराम-मय दिखलायी पड़ता है। श्रीराम ने हनुमान से अपने अनन्य भक्त का लक्षण भी कुछ ऐसा ही बतलाया है—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त।

जगत् की सभी वस्तुओं को अपने प्रभु का ही रूप समझने के कारण भक्त निज प्रभु मय देखहिं जगत्, का सन करहिं विरोध। वह किसी के दोष नहीं देखता। सबसे प्रेम करने लगता है। उसके मन की वासनाएँ शान्त हो जाती हैं। उसे यथालाभ सन्तोष हो जाता है। अब उसके मानसिक विकास का चरमोत्कर्ष होता है। उसके व्यवहार में सरलता आ जाती है। उसमें छल-कपट नहीं रह जाता। दोहावली

में गोस्वामीजी ने राम-भक्ति का परिणाम यही बतलाया भी है—

सूधे मन सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुवर-प्रेम-प्रसूति।

भक्त अपने प्रभु पर अटल विश्वास करने लगता है। उसके हृदय से दीनता दूर हो जाती है। वह हर्षमय हो जाता है। इसी अन्तिम 'अभय' की दशा में रहने की शिक्षा रामचन्द्रजी ने लङ्का से विदा करते समय वानरों को दी भी थी—सुमिरेहु मोहिं, डरपेहु जनि काहू।'

इस प्रकार भक्त का व्यवहार लोक-बाह्य नहीं होता, वह लोक के लिए कल्याणप्रद और अनुकरणीय होता है।

गोस्वामीजी के मतानुसार दास्य भक्ति ही उचित है। काकभुशुण्डि ने इसी का समर्थन किया है—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पङ्कज, अस सिद्धान्त विचारि॥

तुलसीदासजी ने मित्रता के सम्बन्ध में लिखा है कि छोटे या बड़े से मित्रता होनी उचित है, बराबर वाले से अनुचित है—

कै लघु कै बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस, मिले महा विष होइ।

दोहा०। ३२३।

यह दोहा उनकी दास्य भक्ति का समर्थन करता जान पड़ता है। उनकी समझ में सम-सनेह—सख्य भक्ति—उपयुक्त नहीं।

काव्य-सौष्ठव

मानस के कवि ने आरम्भ में वन्दना और फिर मानस-रूपक के द्वारा कथा के प्रबन्ध की विशद प्रस्तावना की है। तदनन्तर राम-चरित का चित्रण करते समय प्रबन्ध-निर्वाह में जो पटुता प्रदर्शित की है वह देखते ही बनती है। रामावतार के

प्रबन्ध-पटुता

आठवँ जथा लाभ सन्तोषा, सपनेहु नहिं देखइ परदोषा।
नवम सरल सब सन छल हीना, मन भरोस हिय हरष न दीना।

यदि ध्यान से देखा जाय तो भक्ति के ये रूप भक्त के मानसिक और आध्यात्मिक विकास के नौ सोपान हैं, जिन पर चढ़ता हुआ वह आत्मोन्नति के उच्च लक्ष्य तक पहुँच सकता है। सन्तों के सत्सङ्ग से मन भगवान की ओर झुकता है। फलस्वरूप भगवान की कथा के प्रति सम्मानभाव और बाद में प्रेम का उदय होता है। इसके अनन्तर साधक निरभिमान होकर गुरु की सेवा में लगता और उसके द्वारा भगवत्तत्त्व प्राप्त करता है। भगवान् का तत्त्व जान जाने पर भक्त उसके गुणों का कीर्त्तन करने लगता है। इस प्रकार उसकी वाणी पवित्र होती है और उसके मन पर भगवदीय संस्कार जम जाते हैं। तब उसका विश्वास दृढ़ हो जाता है और वह मन्त्र जाप तथा भजन में लग जाता है। अब उसके आचरण में भक्ति ढल जाती है। उसका मन नाना कर्मों से हट जाता है। वह सज्जनोचित कर्मों में ही लगा रहता है। तदनन्तर उसे सर्वत्र प्रभु की व्याप्ति का अनुभव होने लगता है। भक्त आपा मिटाकर सर्वत्र अपने प्रभु को ही देखता है। उसे सब जग सीयराम-मय दिखलायी पड़ता है। श्रीराम ने हनुमान से अपने अनन्य भक्त का लक्षण भी कुछ ऐसा ही बतलाया है—

में गोस्वामीजी ने राम-भक्ति का परिणाम यही बतलाया भी है—

सूधे मन सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुबर-प्रेम-प्रसूति।

भक्त अपने प्रभु पर अटल विश्वास करने लगता है। उसके हृदय से दीनता दूर हो जाती है। वह हर्षमय हो जाता है। इसी अन्तिम 'अभय' की दशा में रहने की शिक्षा रामचन्द्रजी ने लङ्का से विदा करते समय वानरों को दी भी थी—सुमिरेहु मोहिं, डरपेहु जनि काहू।'

इस प्रकार भक्त का व्यवहार लोक-बाह्य नहीं होता, वह लोक के लिए कल्याणप्रद और अनुकरणीय होता है।

गोस्वामीजी के मतानुसार दास्य भक्ति ही उचित है। काक-भुशुण्डि ने इसी का समर्थन किया है—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पङ्कज, अस सिद्धान्त बिचारि॥

तुलसीदासजी ने मित्रता के सम्बन्ध में लिखा है कि छोटे या बड़े से मित्रता होनी उचित है, बराबर वाले से अनुचित है—

कै लघु कै बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस, मिले महा विष होइ।

दोहा०। ३२३।

यह दोहा उनकी दास्य भक्ति का समर्थन करता जान पड़ता है। उनकी समझ में सम-सनेह—सख्य भक्ति—उपयुक्त नहीं।

काव्य-सौष्ठव

मानस के कवि ने आरम्भ में वन्दना और फिर मानस-रूपक के द्वारा कथा के प्रबन्ध की विशद प्रस्तावना की है। तदनन्तर राम-चरित का चित्रण करते समय प्रबन्ध-निर्वाह में जो पटुता प्रदर्शित की है वह देखते ही बनती है। रामावतार के

प्रबन्ध-पटुता

प्रयोजन जिस क्रम से बतलाये गये हैं उनमें कथानक के विकास की उपयुक्त योजना निहित है। आरम्भ में जय-विजय, कश्यप-अदिति और जलन्धर की कथाओं का सङ्केत करके विविध कल्पों में रामावतार की आवश्यकता का उल्लेख मात्र हुआ है। फिर नारद के मोह और उनके दिये गये शाप का विस्तृत विवरण दिया गया है। उसमें नारद के वचनों की रक्षा के निमित्त विष्णु के नर-रूप धारण करने की सूचना मिलती है। फिर मनु और शतरूपा की तपस्या की सिद्धि और प्रभु को पुत्र रूप में पाने की उनकी वर-याचना का मनोरम वर्णन है। इस प्रकार भगवान् के पहले नर रूप में और फिर दशरथ-कौशल्या के पुत्र के रूप में अवतार लेने के लिए प्रतिश्रुत हो जाने के अनन्तर रावण के आविर्भाव की कथा कही जाती है। प्रतापभानु की अमरता की अभिलाषा उसे ले डूबी। वह ब्राह्मणों के शाप से राक्षस के रूप में रावण हुआ। अब आगे प्रबन्ध काव्य का बड़ा ही प्रभावशाली उत्थान प्रारम्भ होता है। रावण के अत्याचार से पृथ्वी के त्रास और उसका निवारण करने में देवताओं के असामर्थ्य का जीता-जागता रूप सामने आता है। इस प्रकार पहले राम के प्रकट होने के प्रयोजन बतला कर, फिर उनके अवतार लेने के समय. लोक की स्थिति का भीषण चित्र अङ्कित करके कवि ने दिखलाया कि उस परिस्थिति में राम का आविर्भाव कितना आवश्यक एवं उपयुक्त था। राम के अवतरण के लिए वनचर देहधारी देवताओं की जो उत्सुकता सूचित की गयी है उसे लोक-रावण रावण के अत्याचार से ऊबे हुए विश्व की राम के स्वागतार्थ उत्कण्ठा का प्रतीक समझना चाहिये। राम के आविर्भाव के लिए विश्व ही नहीं, कुछ व्यक्ति भी लालायित थे। चौथेपन तक सन्तति का मुँह न देख सकने के कारण अयोध्या के स्वामी दशरथ ग्लानि से भरे हुए थे। वे ही नहीं, अपने राजा के दुःख-सुख के समभागी प्रजाजन भी राम के आगमन के मार्ग में अपने पलकों के पाँवड़े बिछाये बैठे थे। इस

प्रकार लोक, परिवार और पुर को राम के स्वागत के लिए प्रस्तुत करके तुलसीदास ने उनके जन्म लेने के समय के आनन्द और उत्सव का विशद वर्णन करके *रामचरितमानस* की कथा प्रारम्भ की है।

ऐसे प्रभावोत्पादक और रोचक ढङ्ग से जो कथानक उठाया गया है उसका सम्यक् रीति से निर्वाह अन्त तक हुआ है। कहीं भी कोई ऐसा प्रकरण नहीं आया जो भरती का कहा जा सके अथवा जिससे कथा-प्रवाह में कहीं रुकावट दिखलायी पड़ती हो। कारण, तुलसीदासजी जानते थे कि कथा की रोचकता बनाये रखने के लिए क्या आवश्यक होता है और क्या अनावश्यक। उन्होंने समस्त आवश्यक प्रसङ्गों को ग्रहण किया और सभी अनावश्यक बातों को त्याग दिया। साथ ही वे यह भी जानते थे कि किसी आवश्यक बात का किस रूप से और कितना वर्णन किया जाय, जिससे वह श्रोता अथवा पाठक के मन को अच्छा लगता रहे, अधिक हो जाने से उसके मन को बुरा न लगने लगे अथवा उसे उबाने न लगे। इसलिए उन्होंने कथा का वही अंश विस्तार से सुनाया जिसमें जीवन के मर्म छिपे रहते हैं और जिनका उद्घाटन लोगों को रुचिकर प्रतीत होता है। इसी से *रामचरितमानस* में उन्हीं स्थलों पर कुछ जमकर कथा चली है जिनको सुन वा पढ़ कर लोगों की उत्सुकता बढ़ती है। ऐसे स्थलों में कुछ हैं—राम-लक्ष्मण का जनकपुर-दर्शन, फुलवारी में राम-सीता का प्रथम साक्षात्कार, धनुष-यज्ञ, राम-विवाह, राम-वन-गमन, भरत-राम का मिलन, सीता-हरण के समय राम का विलाप, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर उनका प्रलाप, राम-रावण का तुमुल संग्राम और राम-राज्य का प्रभाव। इनमें कुछ तो गार्हस्थ्य जीवन के ऐसे प्रसङ्ग हैं, जो पुरातन होते हुए भी चिरन्तन होने के कारण चिर नवीन रहते हैं और कुछ जीवन की भीषण स्थितियों से मानव के चिरकालीन सङ्घर्ष के उत्कृष्ट चित्र होने के कारण सदा आकर्षक रहेंगे।

मार्मिक प्रकरण

धनुष-यज्ञ के समय जनकपुर में 'दीप दीप के भूपति' एकत्र हुए थे, किन्तु राम के सौन्दर्य ने सर्वत्र मोहिनी डाल दी थी। 'सहज विरागी' जनक उसे देखते ही स्तब्ध रह गये थे, पुरवासी उसे देखने के लिए 'धाम काम सब त्यागी' 'लोचन-फल' पाकर सुखी होते थे, नारियाँ उसे देखकर उसके निरूपण में मग्न हो जाती थीं, बालक उससे आकृष्ट होकर निकट आते और राम को अपने-अपने घर ले जाते थे। इसी लावण्य की पहली झलक लतामण्डप की ओट से देखकर सीता 'रामहि उर आनी' 'पलक-कपाट' बन्दकर ध्यान में मग्न हो गयी थीं। फिर राम को सम्मुख देखकर उनकी मानसिक दशा क्या हुई थी इसका उद्घाटन करके कवि ने पाठक की कल्पना और उत्सुकता को खुलकर खेलने का अवसर प्रदान किया है। सीता और राम के इस मिलन में प्रेम का बीजारोपण हुआ। धनुष-यज्ञ में सभी राजाओं, मनुज रूप-धारी देवों और दनुजों एवं रावण तथा बाण जैसे महाभटों की असफलता के पश्चात् राम के अनायास ही धनुष तोड़ने पर उनकी शक्ति का प्रदर्शन हुआ। यह सिद्ध हो गया कि वे सचमुच 'बड़ प्रभाव, देखत लघु अहहीं'—देखने में ही छोटे हैं, परन्तु हैं बड़े ही शक्तिशाली। तदनन्तर सारी सभा को केवल टेढ़ी आँख से देखकर त्रस्त करनेवाले परशुराम को अपनी गम्भीरता से नतमस्तक कराने पर राम के बल का सिक्का धनुष-यज्ञ में उपस्थित सभी लोगों पर पूर्णरूप से जम गया। इस प्रकार सीता के प्रेम का आधार अनन्त सौन्दर्य का ही नहीं, अपरिमित शक्ति का भी आकर सिद्ध हुआ और वही उस अलौकिक प्रेम का उपयुक्त पात्र बना।

इसी प्रकार, लक्ष्मण-परशुराम का संवाद भी निर्भय बालक और पुराने पुरुषार्थ की डींग मारने वाले अशक्त ब्राह्मण देवता की नोक-झोंक का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करता है। जिस समय राम के युवराज-पद पर प्रतिष्ठित होने की योजना में लगे हुए अयोध्या-वासी सुख की नींद सो रहे थे, उसी समय अनाशातीत रूप से उनको चौदह वर्ष के लिए वन

जाते देखकर करुणा का सागर उमड़ आया। उसमें सभी बह चले। भरत का विषाद, चित्रकूट में उनके आचरण का उत्कर्ष और फिर उनके त्याग और तप से पूत कर्त्तव्य-परायण कर्मठ जीवन की झलक किसका मन नहीं मोह लेती ? जिन सीता ने दशरथ-कौशल्या जैसे श्वसुर-सास के बहुतेरा समझाने पर भी पति के लिए अपने आप वनवास अपनाया उनके अपहरण के समय राम की विरहाकुलता की स्वाभाविकता भी दर्शनीय है। ऐसे ही, जिस भाई लक्ष्मण ने घर-वन में कभी भी साथ न छोड़ा हो उसके शक्ति लगने पर राम का अपने महान व्यक्तित्व के गाम्भीर्य को भुलाकर, न कहने योग्य बातें कहते हुए प्रलाप करना कितना मर्मस्पर्शी है ! इसी प्रकार, रावण के पराक्रम और अदम्य निश्चय तथा राम के अडिग और निर्भय पुरुषार्थ का लोमहर्षण विस्तृत विवरण भी मानव दृढ़ता का ऐसा चित्रण है जिसे सुनते वा पढ़ते समय हृदय की गति क्षण भर के लिए रुक-सी जाती है। इस अतुलनीय शौर्य के अधिष्ठान राम के राज्य की सम्पदा का विस्तृत परिचय उनके उत्कृष्ट चरित्र की स्थायी छाप छोड़ने के लिए भले ही दिया गया हो, किन्तु वह है आदर्श राजा की प्रतिष्ठा के अनुरूप ही। ये और ऐसे कितने ही दूसरे प्रसङ्ग इस बात के प्रमाण हैं कि मानसकार को मानव-मनोवृत्तियों की सच्ची जानकारी थी और वे उनकी झाँकी दिखलाने में पूर्णतया निपुण थे। इसी से उन्होंने सर्वत्र ऐसे ही स्थलों का विशद रूप से दिग्दर्शन किया जो जीवन के वास्तविक चित्र हैं और जिनको देखने के लिए लोग सदैव उत्कण्ठित रहते हैं।

गोस्वामीजी ने जहाँ उपर्युक्त प्रसङ्गों का जी खोलकर पूर्णतया वर्णन किया है वहाँ उन्होंने ऐसे स्थलों का चलता-सा उल्लेख करके ही काम चलाया है जिनमें श्रोता वा पाठक को कोई रस नहीं मिल सकता। उदाहरणार्थ, चित्रकूट से भरत के तथा लङ्का-विजय से राम के प्रत्यावर्तन को लीजिये। चित्रकूट की

चलते वर्णन

सभाओं का कितना विस्तार-पूर्वक वर्णन मिलता है! यह इसलिए कि इन सब में भरत के महामहिम रूप और राम के शील का सम्यक् निरूपण हुआ है। परन्तु जब भरत चित्रकूट में राम से विदा होकर अयोध्या पहुँचते और वहाँ राम के राज्य की देखभाल की सुव्यवस्था करके स्वयं तप करते हुए चौदह वर्ष की लम्बी अवधि बिताते हैं तब थोड़े में ही सब बातों का सजीव किन्तु केवल उल्लेख करके कथा आगे बढ़ायी जाती है। इसी प्रकार, राम-रावण के युद्ध का वर्णन तो पूरे विस्तार से किया जाता है, किन्तु राम के सीता से मिलने और अयोध्या लौटने का वर्णन बहुत शीघ्र समाप्त हो जाता है। ऐसे ही, सीतान्वेषण में तत्पर विरहाकुल राम के विलाप का ब्योरा देते समय कवि नहीं थकते, किन्तु केवल आगे चले बहुरि रघुराया, ऋष्यमूक पर्वत नियराया कहकर किष्किन्धा से ऋष्यमूक तक की यात्रा का अन्त क्षण भर में कर देते हैं।

अरोचक वर्णनों से बचाव

इसी प्रकार उन स्थलों में भी वर्णन-लाघव है जिनमें कवि केवल सूचना देना आवश्यक समझते हैं अथवा जिनके अनावश्यक विस्तार से कथा की रोचकता में बाधा पड़ने की आशङ्का समझते हैं। जैसे, अयोध्या में बारात के सजने का वर्णन तो बहुत बढ़ा चढ़ा कर किया गया है, किन्तु वहाँ से चलकर जनकपुर पहुँचने तक की बातों की सूचना मात्र है; फिर जनकपुर में बारात के अभिनन्दन का पूरा वर्णन है, किन्तु केवल गये बीति कछु दिन यहि भाँती, प्रमुदित पुरजन सकल बराती कहकर कथा आगे बढ़ायी गयी है। इसी प्रकार, जनक के दिये हुए दायज की प्रचुरता सूचित करने के लिए 'कनक, मणि, बहुमूल्य कम्बल, वस्त्र, पाटम्बर, गज, रथ, तुरग, दास, दासी, और अलङ्कृत धेनु' का नाम भर ले लिया गया है और अन्त में कह दिया गया है कि वस्तु अनेक करिअ किमि लेखा, कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा। दशरथ ने इस प्रचुर उपहार में किस-किस को

कितना और क्या दिया इसके निरर्थक वर्णन में कवि ने अपनी कवित्व शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया, बस इतना कहकर राजा दशरथ के मुक्तहस्त होकर दिये दान की सूचना दे दी है कि दीन्ह जाचकन्ह जो जेहि भावा। विवाह के उपरान्त जनक के प्रासाद में जो ज्योनार हुई थी उसमें भी कवि ने अपने पाकशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव का लेखा देना उचित नहीं समझा। केवल क्षण भर में सुन्दर स्वादिष्ट सूपोदन (दाल-भात) और सुरभी सर्पि (गाय का घी) के परोसने और पञ्चग्रास करके जेवने लगने और फिर चारि भाँति के (चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय) छरस (मीठे, कड़वे, तीते, खट्टे, कसैले और नमकीन) व्यञ्जनों के परोसने का उल्लेख कर दिया। जैसे जायसी ने *पद्मावत* में और सूरदास ने *सूरसागर* में प्रत्येक प्रकार के भोजनीय पदार्थ की लम्बी सूची प्रस्तुत की है वैसे तुलसी भी चाहते तो विविध प्रकार के खाद्यद्रव्यों के नाम गिना देते; परन्तु इससे कथा के सौष्ठव में व्याघात पड़ता। इसी से वे सदैव ऐसे निरर्थक वर्णन करने से बचते रहे हैं।

गोस्वामीजी को सदा इस बात की आशङ्का बनी रहती थी कि राम के आचरण में नरत्व का प्रदर्शन करने से उनके वास्तविक परात्पर रूप के विषय में कहीं मति-भ्रम न हो जाय।

अप्रिय प्रसङ्ग की सूचना मात्र

इसी से वे ऐसे अवसरों के उपस्थित होने पर जहाँ राम के मानव सुलभ कार्यों का स्वाभाविक चित्रण होता था श्रोता को चट सतर्क करने से कभी नहीं चूकते थे। उस समय वे श्रोता की मति का भरोसा करके उसको अपने आप समझ लेने के लिए कुछ नहीं छोड़ते थे। बार-बार स्मरण दिलाने के दोषी बनकर भी वे राम की ईश्वरता सूचित करने के लिए कथा का प्रवाह रोककर भी क्षण भर के लिए रुक जाते थे। परन्तु जब कोई अप्रिय प्रसङ्ग आता था तब उसको स्पष्ट रूप से अथवा विस्तार से बतलाना आवश्यक नहीं समझते थे, केवल सूचित करके चलते बनते थे। कुछ उदाहरण लीजिये।

के वनवास की बात कहीं खुलकर नहीं
। आहूत राम से दशरथ ने तो इस सम्बन्ध
ो नहीं, कैकेयी ने भी उनसे यही कहा था कि

सु कारन एहु, राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू।
दन कहान्ह माहि दुइ वरदाना, माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना।
सो सुनि भयउ भूप उर सोचू, छाड़ि न सकहिं तुम्हार सँकोचू।
सुत सनेह इत बचनु उत, सङ्कट परेउ नरेसु।
सकहु त आयसु धरहु सिर, मेटहु कठिन कलेसु।

जब रामचन्द्रजी कौशल्या के पास पहुँचे तब भी उन्होंने इतना ही कहा कि पिता दीन्ह मोहि कानन राजू और उनसे निवेदन किया कि

बरप चारिदस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ, मनु जनि करसि मलान।

कौशल्या ने इसका कारण पूछा। तब उत्तर में राम ने स्वयं तो कुछ न कहा; सुमन्त्र के पुत्र को सङ्केत किया। उसने सब कारण समझा दिया—

निरखि राम रुख सचिव सुत, कारनु कहेउ बुझाइ।

बुझा दिया। बस। कवि ने वह अप्रिय बात खोलकर उससे भी नहीं कहलायी। इसी प्रकार, जब सुमन्त्र से लक्ष्मण ने कुछ कड़ी बातें कह दी थीं—कही लखन कछु अनुचित बानी—तब भी कवि ने उन्हें स्पष्ट नहीं लिखा और दशरथ से राम का सन्देश सुनाते समय भी सुमन्त्र ने उन बातों को नहीं खोला। लक्ष्मण के इस व्यवहार से राम लज्जित हुए। उन्होंने सुमन्त्र से अनुनय-विनय की। कहा कि इनकी चर्चा पिताजी से न कीजियेगा। अनुज के दुर्व्यवहार से लज्जा का अनुभव करनेवाले राम के इस शील की छाप सुमन्त्र के मन पर पड़े बिना न रही। इसी से इस शील की व्यञ्जना करने के लिए वे दशरथ से लक्ष्मण की कटूक्तियों का सङ्केत करना न भूले फिर भी कवि ने उनके

मुख से लक्ष्मण की उन अनुचित बातों को न कहलाकर बस इतना ही कहलाया कि

लखन कहे कछु वचन कठोरा, बरजि राम पुनि मोहि निहोरा।

मारीच ने मरते समय चिल्लाकर लक्ष्मण का नाम लेकर सीता के मन में भ्रम उत्पन्न कर दिया था कि सङ्कट में पड़ जाने से रामचन्द्र-जी लक्ष्मण को पुकार रहे हैं। इस कारण उन्होंने लक्ष्मण से तुरन्त राम के सहायतार्थ जाने का अनुरोध किया। उधर राम उन्हें पहले ही आज्ञा दे गये थे कि सीता को अकेली छोड़कर कहीं न जाना। इससे लक्ष्मण सीता को समझाने लगे कि राम के ऊपर कभी कोई सङ्कट पड़ ही नहीं सकता। इस पर सीता ने कुछ 'मर्म-वचन' कहे—मर्म वचन सीता जब बोला। वे वचन क्या थे—यह गोस्वामीजी ने नहीं बतलाया। लक्ष्मण ने भी राम से उनका सङ्केतमात्र किया था। राम के कहने पर कि जनकसुता परिपरिहु अकेली, आयेहु तात वचन मम पेली उन्होंने केवल कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी। और कुछ खुलकर नहीं कहा।

शृङ्गार रस के अमर्यादित हो जाने का अवसर आने पर भी गोस्वामीजी बड़ी चतुराई से बच निकले हैं। यथा, शिव और पार्वती के विवाह के अनन्तर उन्होंने उनके विलास का वर्णन न करके उसका यों सङ्केत किया है—

करहिं विविध विधि भोग विलासा, गगन समेत बसहिं कैलासा।
हर गिरिजा विहार नित नयऊ, येहि विधि विपुल काल चलि गयऊ।

इसी प्रकार *मानस* में और भी कितने ही प्रसङ्ग हैं जिनमें कवि ने स्पष्ट शब्दों में वे बातें नहीं कही जिनसे अप्रिय अथवा अकथ्य बात विषय या समाचार सूचित होता है, केवल उसका उल्लेख करके अपना विशेष काव्य-कौशल प्रदर्शित किया है।

मानस में कथानक के वर्णन की एक और विशेषता है। उसमें जब किसी बात के दोहराने का अवसर आया है तब ऐसा नहीं किया

गया। एक बार कही हुई घटना या घटनाओं को पुनः कहने का अवसर आने पर उनका उल्लेख मात्र कर दिया गया है। इससे कथा-प्रबन्ध कहीं ढीला नहीं हुआ और आवृत्ति से श्रोता के मन में कथा के प्रति अरुचि के उत्पन्न होने की आशङ्का नहीं रह गयी। जैसे, अशोक वाटिका में सीता के प्रति रावण का दुर्व्यवहार, उनका विलाप और उन्हें दिया हुआ त्रिजटा का आश्वासन सुनकर हनुमान ने यह विचार किया कि अब मैं क्या करूँ। वाल्मीकि ने सुन्दरकाण्ड के तीसवें सर्ग के तेंतालीस श्लोकों में उनके उस समय के विचारों का वर्णन किया है; किन्तु गोस्वामीजी ने दोहा के एक चरण में ही वह सूचित कर दिया—कपि करि हृदय विचार। फिर राम-नामाङ्कित मुद्रिका गिरा कर हनुमान राम नाम गुन बरनै लागा, और आदिहु तें सब कथा सुनाई। इतने में सीता के अपहरण के पश्चात् उनकी खोज के प्रयत्न तक राम के कार्यों का जो सङ्केत किया गया है वही *वाल्मीकीय रामायण* के इकतीसवें सर्ग के आरम्भिक पन्द्रह श्लोकों में वर्णित है। इसी प्रसङ्ग में सीता ने हनुमान से पूछा था कि नर बानरहि सङ्ग कहु कैसे? हनुमान ने इसके उत्तर में वे सब बातें कही होंगी जिनका वर्णन *मानस* के चौथे सोपान में है। गोस्वामीजी ने उन्हें दोहराया नहीं, केवल इतना ही लिखकर काम साधा कि कही कथा भइ सङ्गति जैसे। इसी प्रकार, जब भरत के बाण से घायल होकर हनुमान द्रोणाचल-समेत गिर पड़े थे तब उनके मुँह से 'राम-राम' सुनकर भरत उनके पास पहुँचे थे। फिर स्वस्थ होने पर हनुमान ने भरत की जिज्ञासा शान्त करने के लिए राम का चरित सुनाया था। तुलसीदासजी ने इसकी सूचना मात्र दी है—कपि सब चरित समास बखाने। ऐसे ही, रामचन्द्रजी ने अयोध्या लौटने के पहले इन्हीं हनुमान को भरत के पास अपने सकुशल लौटकर आने की सूचना देने के लिए भेजा था। भरत के पूछने पर हनुमान ने राम के

निरर्थक आवृत्ति से विरक्ति

सम्बन्ध की बातें बतलायी थीं। गोस्वामीजी ने उनका इतने में ही वर्णन कर दिया है—

तब हनुमन्त नाइ पद माथा, कहे सकल रघुपति गुन गाथा।

मानस के सातवें सोपान में काकभुशुण्डि ने गरुड को *रामचरितमानस* सुनाया है। उसमें तुलसीदास के द्वारा सात सोपानों में वर्णित पूरी कथा का 'मूल' रूप देखा जाता है। *मानस* भर में केवल यहीं एक बार कही हुई कथा फिर से कही गयी है, भले ही उसका वर्णन अति संक्षिप्त रूप में हुआ है। परन्तु यहाँ कवि ने अपनी निश्चित पद्धति का उल्लङ्घन जान-बूझकर किया है। इससे उन्होंने सूचित किया है कि जो कथा काकभुशुण्डि ने गरुड के प्रति गायी थी, वही उनके *रामचरितमानस* में सुनायी गयी है। कथा की परम्परा के प्रदर्शन के लिए ही उन्होंने *मूल रामचरितमानस* की सृष्टि की थी। फिर यह मूल कथा कहीं *मानस* के राम-चरित वर्णन के बीच में नहीं आयी, कथा-समाप्ति के बहुत पीछे दूसरे आख्यान के प्रसङ्ग में आयी है। इससे इसके कारण मूल कथा के प्रवाह में कोई व्यवधान नहीं आता। अस्तु, इसके होते हुए भी हमारे उक्त निष्कर्ष में बाधा नहीं पड़ती कि *मानस* में कोई कथा दोहरायी नहीं गयी।

ऊपर दिये हुए विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामीजी ने *रामचरितमानस* में कथानक के निर्वाह के साथ जीवन के मार्मिक स्थलों का अच्छे प्रकार से वर्णन किया है, अप्रिय बातों का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया, किन्तु सङ्केत करके ही काम चलाया है, और कथा की रोचकता के निर्वाह के लिए उसको एक बार सुनाने के अनन्तर फिर नहीं कहा, आवश्यकता पड़ने पर उसके पुनः कथन की सूचना मात्र दे दी है। इन सब बातों का फल यह हुआ है कि *मानस* का कथानक बहुत ही गठा हुआ रहा। उसमें हृदय को प्रभावित करने वाले प्रकरण यथास्थान और यथेष्ट आये, जिससे वह सहृदय श्रोताओं

और पाठकों का हृदय-हार हुआ।

चरित-चित्रण

मानस के पात्रों के आध्यात्मिक रूप के सम्बन्ध में बतलाया जा चुका है कि वे सब परात्पर ब्रह्म राम के भक्त थे। राम की अनन्य भक्ति ही उनके लिए एकमात्र साध्य थी। उनके चरित्र की इस विशेषता को यहाँ फिर से दिखलाना उचित नहीं।

सामान्य-चरित्र

एक बात और। *मानस* में ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि देवताओं, सनकादि तथा नारद आदि सिद्ध पुरुषों, वसिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि, शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि ऋषियों-मुनियों और जटायु, शबरी, जाम्बवान, सुग्रीव, अङ्गद आदि भक्तों और सेवकों तथा मारीच, माल्यवान, शुक, प्रहस्त आदि राक्षसों और त्रिजटा, मन्दोदरी आदि राक्षसियों की भी थोड़ी-बहुत चर्चा है। इनमें वसिष्ठ सूर्य-वंश के पुरोहित थे। उन्होंने राम के जातकर्म, उपनयन, विद्यारम्भ, विवाह आदि संस्कार कराये और राज्याभिषेक के अनन्तर उनके ब्रह्मत्व को स्वीकार किया। दशरथ के उठ जाने पर उन्होंने भरत के ननिहाल से लौटने तक अयोध्या की रक्षा की, फिर भरत को समझाया और चित्रकूट में परमार्थ का उपदेश दिया तथा राम को अयोध्या लौटा चलने के लिए भरत की ओर से प्रयत्न किया। चित्रकूट से लौटने पर वे भरत को राम के राज्य का प्रबन्ध करने में परामर्श दिया करते। वनवास से लौटने पर राम का राजतिलक भी उन्हीं के हाथों से हुआ। इसी प्रकार, विश्वामित्र राम के शस्त्र-विद्या के गुरु और जनकपुर ले जाने तथा प्रकारान्तर से सीता के साथ विवाह के निमित्त थे। जब भरत चित्रकूट गये थे तब विश्वामित्र भी वहाँ पहुँचे और राम ने विदा करते समय उन्हें भी वामदेव तथा जाबालि के साथ प्रणाम किया था। प्रयाग में राम भरद्वाज से मिले और उनके चार शिष्यों के दिखलाये मार्ग से यमुना तक गये। भरद्वाज ने भरत को

निश्चिन्त किया था कि राम को वन भेजने के सम्बन्ध में तुम्हारा कोई हाथ नहीं है और राम को तुम्हारे विषय में तनिक भी सन्देह नहीं। वाल्मीकि ने अपने आश्रम में राम का सत्कार करके उन्हें चित्रकूट में रहने का परामर्श दिया। चित्रकूट छोड़ने के उपरान्त अगस्त्य ऋषि की सम्मति से ही श्रीराम दण्डकवन में रहने गये थे। अत्रि, शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण आदि का राम के चरित में भक्त और भगवान् मात्र का सामान्य सम्बन्ध है, उन्होंने उनके कार्यों में कोई योग नहीं दिया। सीता को हर कर ले जाते समय रावण से लड़कर जटायु ने प्राण त्यागे थे और मरने के पहले राम को सूचना दी थी कि रावण कुररी के समान विलपती हुई सीता को दक्षिण की ओर ले गया है। शवरी के कहने पर ही राम पम्पा सरोवर में सुग्रीव से मिलने गये थे। जाम्बवान ने हनुमान को सिखलाया था कि एतना करहु तात तुम्ह जाई, सीतहि देखि कहहु सुधि आई। वे अनुभवी और शक्तिशाली सेना-नायक थे और उन्होंने रावण से भी मोर्चा लिया था। सुग्रीव ने ही राम को निश्चित रूप से सूचित किया था कि सीता पर-वश थीं, वहुत विलाप करती थीं। आकाश से जाते हुए उन्होंने मुझे देखकर अपने वस्त्र गिरा दिये थे। उन वस्त्रों को देखते ही राम ने पहचान लिया। इस प्रकार सीता के रावण द्वारा अपहृत होने की पुष्टि करके सुग्रीव ने उनकी खोज के लिए चारों दिशाओं को बन्दर भेजे और सीता का ठीक पता लग जाने पर अपने सैनिक नल-नील के निरीक्षण में समुद्र पर पुल वाँधने में राम की सहायता की। सेनाध्यक्ष होने के कारण सेना का सञ्चालन करते हुए उन्होंने स्वयं भी युद्ध किया। कुम्भकर्ण के नाक-कान काट लिये। राम उन पर इतना विश्वास करते थे कि स्वयं युद्ध में लग जाने पर उन्हें सेना की देख-रेख का भार सौंपते थे। जब उन्होंने मेघनाद का वध करने की आज्ञा देकर लक्ष्मण को भेजा था तब विभीषण और जाम्बवान के साथ सुग्रीव को भी अपनी सेना लेकर उनके सहायतार्थ जाने की आज्ञा

दी थी। राम के सेवकों में अङ्गद परम चतुर थे। उन्हें अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसी से राम ने युद्ध आरम्भ करने के पूर्व उन्हें ही दूत बनाकर रावण को समझाने का अन्तिम प्रयत्न करने के लिए लङ्का भेजा। उन्होंने लङ्केश को मुँहतोड़ उत्तर दिये। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी यदि कोई भी मेरा पैर हटा दे तो मैं सीताजी को हार जाऊँ और रामचन्द्र लौट जायँ। रावण की सभा में कोई उनका पैर टस से मस न कर सका। जब स्वयं रावण उसे हटाने के लिए उठा तब उन्होंने बड़ी चतुराई से उसे लज्जित करके बैठा दिया। वे दूत-कर्म में निपुण तो थे ही, शत्रु के रहस्यों का गुप्त रूप से ज्ञान प्राप्त करने में भी प्रवीण थे। उन्होंने राम को गढ के सब समाचार बतला दिये थे। वे असाधारण वीर भी थे। उन्होंने और हनुमान ने पहले दिन ही जो युद्ध किया था उस पर राम बहुत प्रसन्न हुए थे। वे अनन्य भाव से सदा राम की सेवा करते रहने के लिए उत्सुक थे। इसी से राम के राज्याभिषेक के अनन्तर अयोध्या से लौटना नहीं चाहते थे। प्रभु ने उन्हें अपनी माला पहना कर तथा बहुत ही समझा-बुझाकर विदा किया था।

विरोधियों में मारीच ही ऐसा था जिसने सीता-हरण में रावण का हाथ बँटाया था। उसने स्वर्ण-मृग बनकर सीता को लुभाया था। इससे उन्होंने राम से उनका चर्म लाने का हठ किया था। फिर मरते समय उसने चिल्लाकर लक्ष्मण का नाम ऊँचे स्वर में पुकार कर सीता को धोखा दिया। इस प्रकार लक्ष्मण के राम के पास चले जाने पर पर्ण-कुटी में सीता अकेली रह गयीं। तभी रावण उन्हें हर ले गया। माल्यवान रावण का पुराना मन्त्री था। उसने उसे समझाया था कि सीता को लौटाकर राम से मेल कर लो। शुक रावण का गुप्तचर था। उसने राम की सेना के बीच जाकर उसकी शक्ति का पता लगा कर रावण को सूचित किया और उससे प्रार्थना की कि जनक-सुता रघुनाथहि दीजे। प्रहस्त ने रावण को राम के सम्बन्ध में उस समय

सच्ची बात बतलाने का साहस किया था जिस समय उसके सब मन्त्री ठकुरसुहाती कह रहे थे। उसने कहा था कि पहले तो दूत भेजकर रामचन्द्र से मेल कर लो, फिर सीता देकर उनसे प्रीति करो। यदि वे ऐसा करने पर ही लौट जायँ तो झगड़ा न बढ़ाओ, नहीं तो डटकर युद्ध करो। जिस समय सीता ने रावण का तिरस्कार करके अपने अविचल पातिव्रत का परिचय दिया था उस समय रावण उन्हें मारने के लिए उद्यत हो गया था। मन्दोदरी ने नीति समझाकर उसे ऐसा करने से रोका था। उसने युद्ध के पूर्व दो बार रावण से प्रार्थना की थी कि राम से विरोध करना छोड़ दो। और लङ्का में बन्दिनी सीता के गाढ़े में त्रिजटा ही काम आयी थी। वे उसे माता कहकर सम्बोधित करती थीं। जब युद्ध में रावण के मारे जाने में विलम्ब होने से सीता व्याकुल हुई थीं तब उसी ने उन्हें ढारस बँधाते हुए रावण-वध का उपाय सूचित किया। वह उस विपत्ति-काल में सीता की एकमात्र शुभैषिणी थी।

इस प्रकार यह प्रकट है कि इन सब का राम के चरित-विकास से थोड़ा-सा ही सम्बन्ध है। ऊपर गिनाये हुए ब्रह्मा, शिव आदि दिव्य चरितों और ऋषियों-मुनियों से राम के नर-चरित्र का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। केवल इन्द्र के सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि उसने युद्धकाल में सारथी मातलि के साथ अपना रथ राम के उपयोग के लिए भेज दिया था। *मानस* के इन पात्रों के सामान्य परिचय के पश्चात् अब हम उसके प्रमुख व्यक्तियों के चरित्र की विशेषताओं पर विचार करना चाहते हैं।

सर्व प्रथम हम राम का दर्शन करायेंगे, कारण वे ही इस महाकाव्य के केन्द्र हैं और उन्हीं के चतुर्दिक अन्य सब पात्र उसी प्रकार भ्रमण करते हैं जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर अन्य ग्रह।

राम

कहा जा चुका है कि तुलसी के राम परात्पर ब्रह्म के सगुण रूप हैं। *मानस* में उनके दिव्य और अदिव्य, दैवी और मानवीय

दोनों रूपों का दर्शन होता है। जहाँ मानव चरित दिखलाया गया है वहीं तत्काल उनके दैवी रूप की ओर ध्यान दिला दिया गया है। उनके बाल-चरित्र में ही उनके विराट् तत्त्व की सूचना मिलती है। उन्होंने जन्म लेते ही कौशल्या को चतुर्भुज रूप में दर्शन दिया था। माता ने माया-गुण-ज्ञानातीत समझकर उनकी स्तुति करके उनसे शिशु-लीला करने का अनुरोध किया। तब उनका बाल-रूप प्रकट हुआ। एक बार जब एक ही समय में बालक राम पलने पर सो रहे थे और कौशल्या का अर्पित नैवेद्य खा भी रहे थे, माता कौशल्या को तब भी भ्रम हो गया था। उस समय कौशल्या ने राम के मुख में अखिल ब्रह्माण्ड देखा था। सीता के अन्वेषण में संलग्न विरहाकुल राम ने सती को भी अपनी सर्वव्यापकता दिखलायी थी। इसी प्रकार, काक-भुशुण्डि ने भी शिशु राम के उदर में उनके विराट् स्वरूप को प्रत्यक्ष किया था। जिस समय सङ्ग्राम में अकेले राम ने खर-दूषण के चौदह सहस्र सैनिकों के दाँत खट्टे किये थे उस समय उन लोगों ने एक-दूसरे को राम समझकर परस्पर लड़कर प्राण त्यागे थे। राम के इस कार्य में भी उनकी विभुता दिखलायी पड़ती है, परन्तु हमारी समझ में तो यह राम के आतङ्क की अधिकता का कवित्वपूर्ण वर्णन मात्र है। अकेले राम पर चारों ओर से अगणित प्रहार हो रहे थे। फिर भी वे अपनी रक्षा करते हुए शत्रुओं को धराशायी कर रहे थे। उनके युद्ध-कौशल ने शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिये और उन लोगों के मन में भय छा गया। वे चारों ओर राम ही राम देखने लगे। इस प्रकार उन्होंने भयाक्रान्त हो समीपवर्ती अपने दलवालों को राम समझ लिया और आपस में ही भिड़ गये। लङ्का से लौटने पर अयोध्यावासी जन-समूह की मिलने की उत्सुकता की शान्ति के लिए भी कवि ने राम के 'अमित रूप' में प्रकट होने की सूचना दी है। इन अलौकिकता-प्रदर्शन के अवसरों को छोड़ राम के चरित्र में अन्यत्र सदैव मनुष्य का सामान्य रूप ही दृष्टि-

सादर पान करत अति, धन्य जन्म सरभङ्ग।

खर-दूषण ने राम को देखकर अपने मन्त्री से कहा था कि

नाग असुर सुर नर मुनि जेते, देखे जिते हते हम केते।

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई, देखी नहिं असि सुन्दरताई।

शूर्पणखा तो 'शोभाधाम राम' को देखकर विकल हो अपना मन ही खो बैठी थी। मारीच भी समझता था कि निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं। विभीषण के लिए राम नयनानन्द दान के दाता ही थे। वह उन्हें देखते ही ठक रह गया था—बहुरि राम छवि धाम विलोकी, रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी।

यह 'मार-मद-मोचन' राम-रूप लोगों को अलग-अलग ही नहीं समष्टि रूप में भी अपने वश में कर लेता था। अयोध्या-वासी अपने राजकुमार को देखकर प्रसन्न हों—थकित होहिं सब लोग लुगाई—तो कोई आश्चर्य नहीं। वे तो उनके राजकुमार जो ठहरे। परन्तु राम तो 'लोक-लोचन सुख-दाता' थे। जो भी उन्हें देखता था वह प्रसन्न होता था। विश्वामित्र के सत्कार के लिए जनक के साथ आगत 'सचिव, भट, भूसुर, गुरु शतानन्द और जाति वाले' सभी राम को देख सुखी हुए थे—भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। जब राम-लक्ष्मण जनकपुर देखने गये थे तब उनके दर्शन के लिए पुरवासी उमड़ पड़े थे और वे निरखि सहज-सुन्दर दोउ भाई, होहिं सुखी लोचन फल पाई। धनुषयज्ञ में उपस्थित 'भले भूप' उनका रूप स्वयं तो देखते ही रह गये थे। वे दूसरों से कहते भी थे कि भरि लोचन छवि लेहु निहारी। और उस विराट आयोजन में उपस्थित असङ्ख्य जन समुदाय तो निर्निमेष दृष्टि से उन्हें देखता ही रह गया था—रामरूप अरु सिय छवि देखें, नरनारिन्ह परिहरीं निमेषें। इसी प्रकार, वन जाते समय ग्रामवासी नरनारी

राम लखन सिय रूप निहारी, पाइ नयन फल होंहिं सुखारी।

चित्रकूट के कोल-किरात भी उस सौन्दर्य को देखकर

चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े रह गये थे और वहाँ के मुनिगण सिय सौमित्रि राम छवि देखहिं और साधन सकल सफल करि लेखहिं। इतना ही नहीं, जब खर-दूषण की सेना एकाकी राम पर चढ़ दौड़ी थी तब वह भी उनकी असाधारण शोभा को देखकर एक बार ठिठक गयी थी—

प्रभु विलोकि सर सकहिं न डारी, थकित भई रजनीचर धारी।

जब राम समुद्र सन्तरण करते समय पुल पर जा रहे थे तब देखन कहँ प्रभु करुनाकन्दा, प्रगट भये सब जलचर बृन्दा। इन जलचरों का झुण्ड पुल के दोनों ओर एकत्र हो गया। वह वहाँ से हटने का नाम तक न लेता था। कारण, राम के रूप-दर्शन में मग्न हो गया था।

ऐसा था भुवन-मोहन राम का सौन्दर्य। जो उसे देखता बस देखता ही रह जाता था। राम का यह रूप ही लोगों को अपनी ओर नहीं खींचता था, उनके गुण, स्वभाव और शील भी अद्भुत आकर्षणमय थे। जो उन्हें देखता था कभी उन्हें भुला नहीं सकता थे। वे बचपन से ही गम्भीर प्रकृति के थे। साधारण बच्चों के-से खेल न खेलकर राज-लीला सम्बन्धी खेल खेला करते थे—खेलहिं खेल सकल नृप-लीला। भरत ने उनको वन भेजे जाने के कारण पश्चात्ताप किया था कि वे हारेहु खेल जितावहिं मोहीं। इससे प्रकट है कि राम खेलते समय भी अपने छोटों का मन रखा करते थे। अल्पकाल में ही उन्होंने सब विद्याएँ सीख ली थीं—अलपकाल विद्या सब आई। इससे प्रकट है कि वे बड़े ही व्युत्पन्न थे। मन लगाकर वेद-शास्त्र सुनते थे और भाइयों को समझाया करते थे—वेद पुरान सुनहिं मन लाई, आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई। शास्त्र-विहित नित्य कर्म करते थे—प्रात प्रातकृत करि रघुराई, और नित्य सन्ध्यावन्दन करते थे—बिगत दिवस गुरु आयसु पाई, सन्ध्या करन चले दोउ भाई। पिता-माता के आज्ञाकारी थे—आयसु माँगि करहिं पुर काजा। बड़ों का यथोचित सम्मान करते थे। प्रातःकाल उठते ही मातु पिता गुरु नावहिं माथा। सामान्य शिष्य की भाँति गुरु की

सेवा करते थे—मुनिवर सयन कीन्हि तब जाई, लगे चरन चापन दोउ भाई। गुरु के परम आज्ञाकारी थे। जब तक विश्वामित्र ने आदेश नहीं दिया तब तक धनुष उठाने के लिए नहीं गये। पिता की आज्ञा के पालन का जो आदर्श उन्होंने उपस्थित किया उसका अब तक कहीं भी दर्शन ही नहीं हुआ—न तो इस देश के इतिहास में और न किसी अन्य देश के इतिहास में तथा न इस देश की कवि-कल्पना में एवं न किसी दूसरे देश की कवि-कल्पना में ही। राज्याभिषेक होने का दिन निश्चित हो जाने पर रात में सबके सोने जाने के पहले तक यह निश्चय था कि प्रातः होते ही राम युवराज बनेंगे। परन्तु सूर्योदय उनके लिए अयोध्या का नहीं, वन का राज्य लेकर आया। राम को पिता की आज्ञा मिली—स्वयं पिता के मुख से नहीं, विमाता के द्वारा। फिर भी उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक उसे अङ्गीकार किया। सुख और दुःख में एक-सी रहने वाली उनकी प्रकृति की यह विशेषता उन्हें मानस के सभी पात्रों से श्रेष्ठता प्रदान करती है।

जैसे उनका धैर्य अटूट था वैसे ही उनका शील भी सदा एकरस रहता था। वे कभी अपना गम्भीर स्वभाव नहीं छोड़ते थे। जिस समय जनक की बातों से अपमानित हो लक्ष्मण पृथ्वी को उलट देने के लिए सन्नद्ध हो रहे थे उस समय राम विश्वामित्र के आदेश से धनुष-भञ्जन करने के निमित्त खड़े तो हुए, परन्तु हरष विषाद न कछु उर आवा। धनुष टूटने पर सीता ने उन्हें जयमाला पहनायी, चारों ओर हर्ष छा गया, परन्तु कुछ अविवेकी राजा सनाह पहन-पहनकर गाल बजाने लगे। इस पर सीता कुछ भयभीत हुईं, परन्तु राम तनिक भी विचलित न हुए—राम सुभाय चले गुरु पाहीं। इसी प्रकार, परशुराम और लक्ष्मण की कहा-सुनी के समय भी राम की मुद्रा सदा की भाँति गम्भीर ही बनी रही।

यही नहीं, कठिन से कठिन विपत्ति के समय भी वे दृढ रहे।

सीता के अपहरण और लक्ष्मण के शक्ति लगने के समय उन्होंने जो विलाप और प्रलाप किया था उससे उनकी दृढ़ता कम नहीं होती, उसे तो उनके हृदय में भरे हुए प्रेम के सागर की हिलोर समझना चाहिये। अपने सारे सुख ठुकराकर, जिन सीता और लक्ष्मण ने राम के साथ चौदह वर्ष के दीर्घकालीन वनवास के कष्ट अपने ही मन से स्वीकार किये थे उनके वियोग की अनुभूति राम न करते और उस वेदना को भी अपने मन में ही रखे रहते, अभिव्यक्त न करते तो उनकी सहृदयता कैसे प्रकट होती? घोर सङ्कट के समय राम का जो हृदय वज्र के समान कड़ा रहता था, वह प्रेम की हलकी-सी ठेस लगते ही हिम के समान पिघल जाता था—वह था कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि। अयोध्या को शोकसागर में डुबाकर वन जाते समय वे हँसते रहे, सबको समझाते रहे, किन्तु चित्रकूट पहुँचकर सुमिरि मातु पितु परिजन भाई, भरत सनेह सील सेवकाई; कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। और जब वहाँ से भरत के साथ माताओं और गुरुजनों को विदा करके अपने आश्रम लौटे थे तब भी प्रभु सिय लखन बैठि बट छाहीं, प्रिय परिजन बियोग बिलखाहीं।

फिर भी अपने आश्रितों के दुःख को देखकर वे अपना दुःख भूल जाते थे। मन को दृढ करके उनके दुःख को दूर करने में लग जाते थे। सुग्रीव की विपत्ति-गाथा सुनकर वे अपना कष्ट भूल ही गये थे। राम अनिच्छापूर्वक अपने मन को मार कर भी दूसरों का मन नहीं तोड़ सकते थे। कहा भी गया है राम सदा सेवक रुचि राखी। वे सीता और लक्ष्मण को अपने साथ वन नहीं ले जाना चाहते थे; किन्तु जब उन्होंने उनके बहुतेरा समझाने-बुझाने पर भी अयोध्या में रहना स्वीकार न किया तब वे उनकी इच्छा पूरी करने पर विवश हुए थे। इसी प्रकार, वे पिता की आज्ञा का पालन करना अपना परम धर्म मानते थे और उसके अनुसार वन में ही रहना उचित समझते थे, किन्तु

जब उन्होंने चित्रकूट की सभा में देखा कि भरत के प्रेम को देखकर वसिष्ठ विचलित हो गये और उन्होंने आज्ञा दी कि जो कुछ भरत कहें उस पर विचार करके करब साधुमत, लोकमत, नृपनय, निगम निचोरि तब राम ने भरत के इच्छानुसार काम करना स्वीकार कर लिया था। यद्यपि भरत आगे चलकर उन्हीं की आज्ञा के अनुसार काम करने पर तत्पर हो गये, फिर भी यदि वे अपने पूर्व-निश्चय के अनुसार एवं स्वार्थ-वश उन्हें अभिषिक्त करके अयोध्या की राजगद्दी पर बिठा देते तो राम बात हार चुके ही थे, अवश्य ही अपने मन और आदर्श के विरुद्ध भी काम कर बैठते।

राम के इस सङ्कोची स्वभाव ने सुमन्त्र के हृदय पर उस समय प्रभाव डाला था जिस समय गङ्गा-तट पर उन्होंने दशरथ का सन्देश सुनाकर राम को लौटाने का प्रयत्न किया था। लक्ष्मण ने बिगड़कर कुछ अनुचित बातें कह दी थीं। उन्हें सुनकर सकुचि राम निज सपथ देवाई सुमन्त्र से अनुरोध किया कि लखन सँदेसु कहिअ जनि जाई। जैसे राम के चुपचाप राज्य छोड़कर हँसते-हँसते वन जाने के कारण उनके शील को भुला सकने की शक्ति दशरथ को न थी, वैसे ही राम का अपने भाई के अनुचित आचरण से स्वयं ग्लानि का अनुभव करना सुमन्त्र के हृदय में बैठ गया और उन्होंने राम के निषेध करने के कारण दशरथ से लक्ष्मण की बातें तो न कहीं, किन्तु उनकी सूचना अवश्य दे दी—बरजि राम पुनि मोहि निहोरा।

राम उदाराशय थे। वे अपने प्रति किये गये सद्व्यवहार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने में कभी नहीं चूकते थे। रावण-विजय का श्रेय उन्होंने स्वयं नहीं लिया। अयोध्या में अपने सखाओं और गुरु की भेंट के समय उन्होंने सारा श्रेय दूसरों पर रख दिया। उन्होंने अपने वानर, भालु और राक्षस सखाओं से गुरु का परिचय देते हुए कहा—गुरु वसिष्ठ कुल पूज्य हमारे, इन्हकी कृपा दनुज रन मारे, और उन लोगों

के सम्बन्ध में गुरु से निवेदन किया—ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे, भये समर-सागर कहँ बेरे। इसी प्रकार, जब हनुमान सीता को ढूँढकर राम से मिले थे तब उन्होंने कहा था कि

सुनु कपि तोहि समान उपकारी, नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।
प्रतिउपकार करौं का तोरा, सनमुख होइ न सकत मन मोरा।
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं, देखेउँ करि बिचारि मन माहीं।

हनुमान के ऋण को चुका सकने में अपनी असमर्थता जानकर ही *गीतावली* में तो राम ने यहाँ तक कह दिया कि देवे को न कछू, रिनिया हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ—मैं तेरा ऋण चुका नहीं सकता, सदा तेरा ऋणी रहूँगा, तू मेरा महाजन बनकर टीप लिखा ले।

रामचन्द्र को अपने वंश का गर्व था और वे उसकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकते थे—रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ, मन कुपन्थ पग धरहिं न काऊ। वे एक-स्त्री-व्रत थे, स्वप्न में भी पर-स्त्री की ओर आँख नहीं उठा सकते थे। उन्होंने कहा भी है कि मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी, जेहि सपनेहुँ पर-नारि न हेरी। पर-स्त्री समझकर ही उन्होंने भोली-भाली ग्राम-वधूटियों की ओर आँख उठाकर देखा तक न था। ग्राम-नारियों ने *कवितावली* में सीता से कहा भी था कि चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं। राम को अपने कुल के साथ ही देश का भी पूरा अभिमान था। उन्होंने कहा था मुझे वैकुण्ठ भी अयोध्या के समान प्रिय नहीं है—

अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ।

राम के ऐसे ही कोमल, सहृदय, सङ्कोची, उदार, कृतज्ञतापूर्ण, स्वजाति और स्वदेश के अभिमानी स्वभाव के कारण ही लोग उन पर अपने प्राण न्योछावर करते थे।

अनुपम सौन्दर्य और चित्ताकर्षक स्वभाव के साथ ही राम को अतुलित बल भी प्राप्त हुआ था। वे राजकुमार थे, भावी राजा थे।

इसी से उन्होंने बाल्यकाल में ही शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही शस्त्र-विद्या भी सीखी थी और तभी उसका प्रयोग करके दिखला भी दिया था कि मेरा शस्त्र किसी निरीह अशक्त पर नहीं उठेगा, जब कभी कोई धर्म-कर्म में बाधा डालेगा तब वह चाहे ताड़का के समान स्त्री ही क्यों न हो और चाहे सुबाहु के समान आततायी पुरुष ही हो, मेरे प्रहार से बच न पायेगा। हाँ, जो मारीच के सदृश रण-भूमि में पीठ दिखायेगा वही अपने प्राण बचा सकेगा। उन्होंने कभी भी किसी अशक्त पर अपने शस्त्र का प्रयोग नहीं किया*। उन्होंने कहा भी है कि सुर महिसुर हरिजन अरु गाई, हमरे कुल इन पर न सुराई।

राम ने उस शक्ति का उपयोग लोक-रक्षा के लिए ही किया। जब उन्होंने चित्रकूट में स्थान-स्थान पर 'अस्थि समूह' देखकर मुनियों से उनका रहस्य जाना तब निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह। और इस प्रण को पूरा करके दिखा भी दिया—रामो द्विर्नाभिभाषते। राम की असामान्य शक्ति शिव के उस धनुष को सहज ही तोड़ डालने में दिखलायी पड़ी थी जिसे देव, दनुज, रावण, बाणासुर और बड़े-बड़े वीर राजा तक अपने स्थान से टस से मस नहीं कर सके थे। परशुराम ने उन्हें अपना धनुष देकर उनकी शक्ति

---

*यह सच है कि उन्हीं की 'सयन' (सङ्केत) से लक्ष्मण ने शूर्पणखा को 'नाक कान बिनु' किया था। इससे राम को कुछ लोग स्त्री पर हाथ उठाने का दोषी ठहराते हैं; परन्तु एक तो वह अबला नारी न थी, प्रमदा होकर, राम के कुल-शील की उपेक्षा करके, उनसे अनुचित प्रस्ताव कर रही थी और फिर उस प्रस्ताव के ठुकरा दिये जाने पर वह भयङ्कर रूप धारण कर सीता को भयभीत कर रही थी, दूसरे वह नारी का शील छोड़कर अपनी नाक तो स्वयं ही कटा चुकी थी, उसकी हाड़-मांस की नाक का काटना सम्भवतः उसी की

को स्वीकार किया था। इसी शक्ति के भरोसे उन्होंने चौदह सहस्र सेना के सहित खर-दूषण का संहार अकेले ही किया था और त्रैलोक्य-विजेता रावण को धूल में मिला दिया था। वे निर्भय भी थे। डर तो उन्हें छू तक न गया था। जिस निर्भयता का प्रदर्शन उन्होंने बाल्यकाल में विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के समय किया था वह सदा उनकी चेरी बनी रही। खर-दूषण की अतुल सेना के सामने वे पैदल ही डटे रहे और उस पर विजयी हुए। रावण से युद्ध करते समय भी वे पैदल ही थे। जब विभीषण को सन्देह हुआ कि विरथ रघुवीर रथारूढ़ रावण को कैसे जीतेंगे तब राम ने 'विजय रथ' का सच्चा रूप बतलाकर अपने मन की अडिग दृढ़ता की ही सूचना दी थी। ऐसे दृढ़ होते हुए भी वे कभी उद्दण्डता पूर्ण बातें कहकर अपने शौर्य की धाक नहीं जमाते थे। परशुराम और रावण के बहुत बढ़-बढ़कर बातें करते समय भी वे शान्त ही रहे। परशुराम ब्राह्मण थे। इससे उनकी सब बातें उन्होंने सुन ली थीं, किन्तु रावण से उन्होंने इतना ही कहा कि जल्पसि जनि देखाउ मनुसाई। वे युद्धकाल में अविचल रहते थे। जब कुम्भकर्ण और रावण के युद्धों में उनकी सेना के पैर उखड़ जाते थे तब भी वे डटे रहते और अपनी बातों से नहीं, काम से उसको फिर से प्रोत्साहित करते थे।

राम योद्धा ही नहीं, सेना के अपूर्व सञ्चालक भी थे। सीता-हरण का ठीक समाचार पा जाने और हनुमान-जैसे चतुर पायक के मिल जाने पर वे चाहते तो भरत जैसे आज्ञाकारी भाई से बात की बात में चतुरङ्गिणी राघवीय सेना मँगवा लेते और कुशल राजकीय वास्तु-विशारदों की सहायता से समुद्र पर पुल बँधवा कर उस सेना के द्वारा लङ्केश को परास्त करते। किन्तु उन्होंने ऐसा न करके भालुओं और वानरों की सेना के द्वारा स्व-निर्मित पुल पर समुद्र सन्तरण कर अपने पुरुषार्थ से ही राक्षसराज का वध किया था। वानरों की सेना के

सङ्घटन में उनकी राजनीति-कुशलता भी छिपी है। रावण जानता ही था कि राम अत्यन्त शूर हैं, क्योंकि उन्होंने चौदह सहस्र सैनिकों के साथ खर-दूषण को अकेले ही मारा था। इससे उसने सीता को चुराने के पश्चात् राम की गति-विधि को देखते रहने के लिए गुप्तचर अवश्य छोड़े होंगे*। रामचन्द्र ने विरही के समान विलाप और 'लता-तरु-पाती' से सीता का ठिकाना पूछकर उन गुप्तचरों की आँखों में निश्चय ही धूल झोंकी होगी। फिर वे वानरों के बीच में न रहकर उनसे अलग प्रवर्षण गिरि पर टिके थे। और सीधे उन्होंने नहीं, सुग्रीव ने सीता को खोजने के लिए बन्दर भेजे थे, सो भी दक्षिण की ओर ही नहीं, अन्य दिशाओं में भी। इन सब बातों से रावण को उनकी युद्ध-योजना का ठीक समाचार ही न मिलता रहा होगा। उन्होंने समुद्र से मार्ग माँगने का नाट्य करके रावण को और भी धोखे में रखा। तभी शुक के द्वारा उनकी सेना और उसके नायकों की शक्ति की सूचना पाने पर रावण ने सब बातें हँसी में टाल दी होंगी। उसने कहा था कि मैंने शत्रु के बल और उसकी बुद्धि की थाह पा ली। जो सहज ही भीरु है और समुद्र के सामने बालक के सदृश मचल कर उससे मार्ग माँग रहा है उसकी युद्ध-सञ्चालन की शक्ति कितनी है यह मैं जान गया। सम्भवतः इसके पश्चात् रावण के गुप्तचर उसको समुद्र पर सेतु बनाने का समाचार बराबर देते रहे होंगे, किन्तु वह उनकी बातों पर विश्वास न करके उन पर कान ही न देता होगा। यदि राम ने अपने इस चातुर्य से रावण को अपनी ओर से, एक प्रकार से, निश्चिन्त न कर दिया होता तो सम्भव है वे इतनी सरलता से सेतु-निर्माण न कर

---

*उसने विभीषण के पीछे शुक-सारण को गुप्तचर बनाकर उसके समाचार जानने की व्यवस्था की थी। इससे उक्त अनुमान निराधार नहीं कहा जा सकता, यद्यपि मानस में कहीं इसका उल्लेख वा सङ्केत नहीं है।

पाते, रावण ने इस कार्य में बाधा अवश्य डाली होती और उनके आक्रमण के हो जाने पर ही रावण को उनका सामना करने की आवश्यकता प्रतीत न हुई होती उसने पहले ही उनके ऊपर धावा बोल दिया होता।

रण-विद्या में प्रवीण राम राजकला में भी पूर्ण दक्ष थे—यह *रामचरितमानस* में विशद रूप से वर्णित है। उनका आदर्श था—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

उन्होंने इसे कोरे आदर्श के रूप में न रखा, प्रत्युत प्रत्यक्ष दिखा दिया—

राम राज बैठें त्रैलोका, हरषित भये गये सब सोका।

और

बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेदपथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग।

तुलसीदासजी ने इस 'रामराज्य' का जो प्रत्यक्षदर्शी के समान वर्णन किया है उसमें राम के लोक-रक्षक और लोक-पालक रूप का वास्तविक चित्र देख जाता है और उससे यह सिद्ध होता कि अनन्त रूप, अगणित गुण और अपरिमित शक्ति के भाण्डार श्रीराम, पुत्र, शिष्य, भाई, पति, मित्र, स्वामी और राजा—इन सभी रूपों में लोक के लिए सच्चे आदर्श हैं।

मानस में राम का सर्वाङ्गीण चित्र उरेहा गया है, किन्तु अन्य व्यक्तियों के जीवन की उतनी ही झलक दिखलायी गयी है जितने का सम्बन्ध राम से है और जिसका वर्णन राम के चरित को पूर्ण करने के लिए आवश्यक समझा गया है। इसी से *मानस* के शेष सब चरित्र अपूर्ण और एकाङ्गी दिखलायी पड़ सकते हैं। उसे ही यहाँ सङ्क्षेप में दिखलाया जायगा।

राम के भव्य चरित्र से होड़ लेने का सामर्थ्य *रामचरितमानस* के पात्रों में केवल भरत को है। कुछ बातों में तो वे राम से भी इक्कीस

हैं। राम ने पिता के वचन पूरे करने के लिए अयोध्या के चक्रवर्तित्व का जन्मसिद्ध अधिकार हँसते-हँसते छोड़ दिया था,

भरत

किन्तु भरत ने तो उस अनाघ्रातीत राज्य को अनायास ही पाकर और कौशल्या, वसिष्ठ, मन्त्रिजन, प्रजा ही नहीं स्वयं श्रीराम के अनुरोध करने पर भी उसकी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं। अपने बड़े भाई की धरोहर की भाँति उसकी देख-रेख अवश्य की, किन्तु राजसी सुखोपभोग की कामना तक न की। 'जैसे चम्पा के वन में रह कर भी भौंरा उसकी सुगन्ध से विरक्त रहता है वैसे ही भरत अयोध्या के उस राज्य के सुख से निर्लिप्त रहे, जिस पर इन्द्र का मन भी ललचा जाता था और जिसकी सम्पत्ति को सुनकर कुबेर तक लजा जाता था।' तभी उनके तपःपूत चरित्र के विषय में राम के अनन्य भक्त तुलसीदास की सम्मति है कि

> लखन राम सिय कानन बसहीं, भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं।
> दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू, सब बिधि भरत सराहन जोगू।

ऐसे पद में राम से छोटे, पर त्याग में उनसे कहीं बड़े भरत के विषय में *रामचरितमानस* के आरम्भिक प्रकरण में केवल इतना लिखा गया है कि वे भी अन्य भाइयों के साथ ही खेलते-खाते हुए बड़े हुए, उन्हीं के साथ विद्या पढ़कर और राम के मुख से सुनकर 'वेद शास्त्र' का मर्म समझते रहे। जनक की पाती पहुँचने का समाचार पाकर वे शत्रुघ्न के साथ सभा में पहुँचे थे और पिता से पूछ बैठे कि कुसल प्रान प्रिय बन्धु दोउ, अहहिं कहहु केहि देस? इस पर दशरथ ने वह पाती फिर बाँचकर सुनायी। तब भरत का राम के प्रति जो स्नेह प्रकट हुआ उसे देखकर सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी। कुछ समय के पश्चात् राजा ने भरत को बुलाकर रघुवीर की बारात में चलने का आदेश दिया और वे अपने समवयस्क राजकुमारों के साथ सजकर घोड़ों पर चढ़कर आ गये। राम के विवाह के अनन्तर जनक के अनुज की पुत्री माण्डवी से उनका

व्याह हो गया। फिर उनके ननिहाल जाकर अपने मामा के यहाँ रहने की सूचना मात्र *मानस में* दी गयी है। एक और स्थल में भरत की जागरूकता और शक्ति की हलकी-सी झलक देखने को मिलती है। शक्ति-व्रण से लक्ष्मण के रक्षार्थ हनुमान पर्वत लिये आकाश में उड़े जा रहे थे, कि वे अयोध्या के ऊपर होकर निकले। उस समय रात भींग रही थी। फिर भी भरत जाग रहे थे। राम की थाती की रक्षा के लिए 'सचिव सुसेवक' नियुक्त करके और नन्दिग्राम में तप करते हुए भी अपने कर्त्तव्य के पालन में अहर्निशि दत्तचित्त रहने के कारण वे रात में स्वय ही अयोध्या की देखरेख में लगे रहते थे। फिर उन्होंने एक ही वाण से हनुमान को घायल करके नीचे गिरा दिया। ऐसे शक्तिशाली थे राम के भाई भरत। उधर राम नाम का स्मरण करते हुए पृथ्वी पर गिरे हनुमान का परिचय पाकर तथा उनसे लक्ष्मण की दशा सुनकर भरत वहुत दुःखी हुए। कहने लगे कि अहह दैव मैं कत जग जायउँ, प्रभु के एकहु काज न आयउँ। परन्तु उन्होंने इस रोने-धोने में ही समय गँवाना उचित न समझा। हनुमान को अपने वाण पर वैठा कर अविलम्ब लङ्का के रण-क्षेत्र में पहुँचाना चाहा, यद्यपि हनुमान ने इसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि, *कवितावली* में लिखे हुए वर्णन के अनुसार, वे स्वयं 'मारुत को, मन को, खगराज को बेग' लजाने वाली गति से उड़कर पर्वत ले जा रहे थे, फिर भी इससे भरत की अपार शक्ति की सूचना तो अवश्य मिल जाती है। इसके अतिरिक्त *मानस* के अन्तिम सोपान में राम के वनवास की अवधि समाप्त होने का समय आ जाने पर भी उनके आने की सूचना न मिलने पर भरत का जो प्रेम से सरावोर चित्र दिखलायी पड़ता है वह उनके राम-भक्त-शिरोमणि होने का प्रमाण है। साथ ही, उस समय उनकी ग्लानि उसी तरह चित्त-वृत्ति का मैल धो देती है जिस तरह उन्होंने राम-वनगमन के अनन्तर ननिहाल से लौटने पर अयोध्या में कौशल्या के सामने

शपथें खाकर उनके हृदय से स्व-कल्पित वह सारा सन्देह क्षण भर में ही दूर कर दिया था, जिसका वास्तव में कहीं अस्तित्व ही नहीं था। कथा-समाप्ति के पूर्व भी भरत ने राम से भक्तों का लक्षण पूछकर मानो यह सूचित किया था कि उन्हें एक ही बात की चिन्ता थी। वह यह कि किन गुणों पर राम रीझ सकते हैं। और उनमें सन्तों के वे गुण थे जिनका उल्लेख श्री राम ने उनसे किया था।

परन्तु भरत का जो चित्र तुलसीदास ने काल-पट्ट पर अमिट कर दिया है उसमें उनके जीवन के बहुत थोड़े दिनों की घटनाओं की छाया पड़ी है। कैकेयी ने उनको ही युवराज बनाने के लिए राम को वन भिजवाया था, किन्तु न तो भरत को पहले से इसकी सूचना थी और न इसमें उनकी सम्मति ही थी। राम से उनका जो प्रेम था वह सब पर प्रकट था। इसी से जब राम के वन चले जाने पर कुछ अयोध्या-वासी इस काम में भरत की सम्मति कहते थे तब कुछ तो यह बात सुनकर चुप रह जाते थे, किन्तु दूसरे लोग खुलकर इसका विरोध करते थे। वे ऐसी बात सुनना भी नहीं चाहते थे, इससे कान बन्द कर लेते थे और यह बात कहने योग्य नहीं है—इससे वे दाँतों तले जीभ दबाकर कहनेवालों को कहने से रोकते थे*। वे कहते थे कि ऐसा न कहो, क्योंकि इसके कहने से पाप होगा, राम तो भरत को प्राणों से प्यारे हैं, और

चन्दु चवै बरु अनल कन, सुधा होइ विषतूल।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिं किछु, भरतु राम प्रतिकूल।

सच्ची बात भी यही थी। ननिहाल से लौटने पर भरत ने कैकेयी की कैसी भर्त्सना की है! गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा! उनके समान

---

* एक भरत कर सम्मत कहहीं, एक उदास भाय सुनि रहहीं।
कान मूँदि कर रद गहि जीहा, एक कहहिं यह बात अलीहा।

साधु पुरुष का अपनी माता को यह कहना कि मुँह मसि लाई, आँखि ओट उठि बैठहि जाई यह सूचित करता है कि अनर्थ देखकर सज्जनों की वाणी से भी क्या-क्या नहीं निकल सकता ! उनकी अगाध राम-प्रीति ही उनकी इस अवसर पर कैकेयी से कही हुई कटूक्तियों का मार्जन कर सकती है। इसके अनन्तर तो सब ने एक स्वर से उनको निर्दोष कहा—कौशल्या, वसिष्ठ, मन्त्री, पुरजन सभी ने कैकेयी के कार्य से भरत को निर्लिप्त माना। राम के मन में तो उनके प्रति कभी कोई सन्देह ही न था। भरद्वाज ने उनसे कहा था कि राम को निसि सब तुमहिं सराहत बीती और वे रात में यहाँ मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा। चित्रकूट में जनक ने उनके सम्बन्ध में सुनयना से कहा था कि

परमारथ स्वारथ सुख सारे, भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे।
साधन सिद्धि राम पग नेहू, मोहि लखि परत भरत मत एहू।

वहाँ पर कई बार सभाएँ हुई थीं। उन सब में भरत ही की ओर सबकी आँखें लगी रहती थीं। जिस समय राम ने उनके ऊपर ही सब कुछ छोड़ दिया था उस समय भी वे राम की इच्छा को सर्वोपरि मान कर पिता के आज्ञापालन में उनके सहायक सिद्ध हुए थे। इस प्रकार वे मानस के द्वितीय सोपान के उत्तरार्द्ध के सबसे प्रमुख व्यक्ति सिद्ध हुए।

सेवा के असि-धारा व्रत का पालन उनके समान कोई क्या करेगा ? अयोध्या से गङ्गा-तट तक राम रथ पर बैठकर गये थे। भरत भी वहीं तक सवारी पर चले। फिर आगे तो गवने भरत पयादेहि पाये। और जब सेवकों ने उनसे बार-बार अनुरोध किया कि होइअ नाथ अस्व असवारा तब उन्होंने कहा कि राम पयादेहि पायँ सिधाये और हम कहँ रथ गज बाजि बनाये ! अतएव सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। इस प्रकार वे नङ्गे पैर और खुले सिर (नहिं पदत्रान, सीस नहिं छाया) चित्रकूट तक गये थे। तभी उनका नेम प्रेम लखि मुनि सकुचाहीं।

निष्कर्ष यह कि त्याग और तप तथा कर्तव्य और प्रेम के साक्षात् स्वरूप भरत तुलसी की भक्ति-साधना के प्रतिरूप थे। उनके रूप में गोस्वामीजी की भक्ति-भावना प्रत्यक्ष हुई है।

लक्ष्मण

लक्ष्मण ने तो बाल्यावस्था से ही राम को अपना सर्वस्व मान कर उन्हें पूर्णतया आत्म-समर्पण कर दिया था। यद्यपि भरत उनसे बड़े थे और स्वभाव में भी उनकी अपेक्षा राम से अधिक मिलते-जुलते थे, फिर भी भाइयों में राम-लक्ष्मण का जोड़ा ही सदा रहता है। और राम के साथ कह भी जाते हैं लक्ष्मण ही—राम-लक्ष्मण ही मुँह से निकलता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि लक्ष्मण राम की परछाईं की नाईं सदा उनके साथ रहे। घर और वन सर्वत्र ही लक्ष्मण राम के अनुयायी रहे। उन्हीं के सङ्केत पर चले। वे परम उग्र स्वभाव के थे, शेषावतार थे न? जनकपुर में परशुराम को देखते ही उनके आतङ्क से बड़ी-बड़ी डींग मारने वाले राजा और हर्षातिरेक में मग्न पुरवासी सभी थर-थर काँपते थे, किन्तु एकमात्र वही थे जो उनसे तनिक भी नहीं डरे और निरन्तर उनकी बातों का मुँहतोड़ उत्तर देते रहे। उनके उत्तर में कहीं-कहीं अविनीत प्रयोग आ गये थे, जो शिष्टाचार के विचार से उचित नहीं कहे जा सकते। सम्भव है राम के प्रति अवज्ञा और तिरस्कार का भाव दिखाने के कारण परशुराम की इस रूप में उन्होंने खिल्ली उड़ायी हो। किन्तु परशुराम की धमकी और लाल-पीली आँखें उनका मुँह बन्द नहीं कर सकीं। फिर भी राम के सङ्केत पर उनके रोष का उमड़ता हुआ सागर तुरन्त शान्त हो जाता था। उनकी उग्रता, असहनशीलता और व्यग्रता सुमन्त्र से राजा दशरथ के लिए कटु वचन कहने और चित्रकूट में भरत के ससैन्य आगमन की सूचना पाने पर उनके लिए लम्बी-चौड़ी बातें कह डालने में व्यक्त हुई थी। उस समय राम के कहने मात्र से वे चुप हो गये थे। राम के आज्ञा-पालन में वे तनिक भी आगा-पीछा

नहीं करते थे। सीता की अग्नि-परीक्षा उन्हें अच्छी नहीं लगी थी, फिर भी राम की इच्छा ने उन्हें उसके लिए लकड़ी एकत्र करने पर विवश किया। वे वीर भी असाधारण थे। युद्ध में उन्होंने अपने प्राणों का मोह छोड़कर शत्रु-संहार किया था और दो बार प्राणान्तक आघात भी सहे थे। इन्द्रजित् मेघनाद को धराशायी करके उन्होंने अपने पराक्रम को मूर्तिमान किया था।

दशरथ

महाराज दशरथ पूर्व जन्म में मनु थे। मनु ने हरि-हेतु तप में सिद्धि प्राप्त करने पर भगवान् से वरदान माँगा था कि मैं चाहउँ तुम्हहिं समान सुत और फिर कहा था कि आपके प्रति सुत-विषयक रति के कारण मुझे लोग बड़ा मूढ भले ही कहें परन्तु मनि बिनु फनि जिमि जलु बिनु मीना, मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना रहे। यही भावना दशरथ के जीवन की सर्वस्व थी। कैकेयी के वरदान माँग चुकने पर उन्होंने बार-बार कहा कि राम को वन न भेजो, चाहे भरत को युवराज बनाने का आग्रह न छोड़ो। फिर भी जब वह अपने हठ पर अड़ी रही तब तो राजा ने कहा कि काहे करसि निदान--क्या मेरा अन्त करके ही मानेगी ? उस समय उनकी विकलता का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि राम राम रट बिकल भुआलू, मनि बिहीन जिमि ब्याकुल ब्यालू और जब सुमन्त्र उनके पास राम को लिवा लाये थे और वे पिता के चरणों पर गिर रहे थे तब भी राजा ने उन्हें लिये उठाइ बिकल उर लाई, गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई। इस प्रकार मानो दशरथ के मन में पूर्व-जन्म की वृत्ति बनी हुई थी। वे राम के लिए ही जी रहे थे। जब अन्त में उनसे राम का वियोग हो ही गया तब सुमन्त्र के लौटने तक तो उन्हें राम के मिलने की आशा बनी रही, किन्तु सुमन्त्र ने आकर सुनाया कि किसी प्रकार भी राम चौदह वर्ष के पहले अयोध्या लौटने के लिए तैयार न हुए। इस लम्बी अवधि तक राम का वियोग दशरथ के लिए असह्य हो उठा।

वे हा रघुनन्दन प्रान पिरीते, तुम बिन जियत बहुत दिन बीते कहकर ग्लानि करते और राम-राम रटते हुए चल बसे। वे जिये तभी तक जब तक राम विधु बदन निहारा किये, और राम बिरह होते ही उन्होंने मरना भी बना लिया। राम मुझे प्राणों के समान प्रिय हैं—यह उन्होंने विश्वामित्र से कहा था। फिर राम के वन चले जाने पर उनके प्राण भी कैसे न जाते?

इस प्रकार अपने पुत्र के प्रेम में आसक्त दशरथ सत्यवादी भी एक ही थे। उनके वंश की रीति थी कि—रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्रान जाइ बरु बचन न जाई। उन्होंने रघुवंश की इस आन की रक्षा में अपने प्राण गँवा दिये। प्राण देकर उन्होंने अपने कुल की प्रतिष्ठा को बचाया ही नहीं, बढ़ाया भी। साथ ही सत्य की रक्षा करते हुए उन्होंने अपने पुत्र-प्रेम की भी पूर्णतया रक्षा की। उनके मुँह से कभी यह न निकला कि राम, तुम वन जाओ। और जब राम वन जाने लगे तब भी वे न कह सके तुम वन न जाओ। पुत्र-प्रेम के कारण उनके मन में यह विचार तो आया कि हे कुलदेव सूर्य, तुम उदय ही न हो। इससे न सवेरा हो और न राम के वन जाने का समय देखने में आये (क्योंकि, कैकेयी ने प्रातः होते ही राम के मुनिवेश धारण कर वन जाने का वरदान माँगा था) और उन्होंने यहाँ तक सोच डाला कि राम स्वयं ही अपना स्वभाव छोड़कर मेरी आज्ञा को ठुकरा दें; परन्तु उन्होंने यह मन में भी न सोचा कि मैं अपनी बात से मुकर जाऊँ। कितना भीषण मानसिक सङ्घर्ष और सत्य और पुत्र के प्रेम का कितना उत्कृष्ट द्वन्द्व कवि ने दशरथ के विचार और काम में दिखलाया है! तभी वसिष्ठ ने उनके सम्बन्ध में कहा था कि

भयउ न अहइ न अब होनिहारा, भूप भरत जस पिता तुम्हारा।

इसी से

बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा, सब बरनहिं दसरथ गुन गाथा।

कौशल्या राम की ही माता ठहरीं, फिर वे महान क्यों न होतीं! राम के वनवास की बात सुनकर वे क्षण भर के लिए विचलित अवश्य हुईं, किन्तु तुरन्त सँभल गयीं। उन्होंने अपने हृदय पर पत्थर रखकर राम को वन जाने की आज्ञा प्रदान की। कारण, इससे उनके स्वामी के सत्य-धर्म की रक्षा होती थी। उन्हें अपने हृदय की इस कठोरता का पश्चात्ताप सदा रहा। इसका उल्लेख उन्होंने भरत से भी किया कि महाराज के मरने का दुःख मुझे नहीं है, क्योंकि वे तो जीने और मरने की अच्छी रीति जानते थे, किन्तु मुझे यह दुःख अवश्य है कि राम सरिस सुत की मैं महतारी हुई! और राम लखनु सिय बनहिं सिधाये परन्तु मैं गइउँ न सङ्ग न प्रान पठाये! धिक्कार है मुझे जो राम जैसे पुत्र के वियोग में भी अब तक जी रही हूँ। इस प्रकार हृदय की कोमल, किन्तु बुद्धि की दृढ़ कौशल्या उस विपत्ति के समय दशरथ की सच्ची जीवन-सङ्गिनी थीं। उन्होंने दशरथ को ढारस बँधाने की पूरी चेष्टा की और आशा बँधायी कि जौं जियँ धरिअ विनय पिय मोरी, रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी। उनकी बातों से राजा के मन की जलन कुछ मिटी थी अवश्य, परन्तु अन्त में कौशल्या भी उन्हें सँभाल न सकीं। कौशल्या ने भरत के आने पर उन्हें धैर्य बँधाया और अपने सरल स्वभाव से ही उन्हें अपनाया भी। उनका यह निर्मल व्यवहार देखकर सभी कह उठे थे कि राम मातु अस काहे न होई। कौशल्या ने चित्रकूट में सुनयना से भरत के इच्छानुसार काम करने में राजा जनक की सहायता दिलाने को कहा था। उस समय भी उनके हृदय की उदाराशयता प्रकट होती है।

कौशल्या

सीता ने राम की सहधर्मिणी होना सार्थक कर दिखाया था। उन्हें वन नहीं दिया गया था, दशरथ और कौशल्या ने उन्हें सब प्रकार का सुख देने का आश्वासन देकर वन जाने से रोकने का प्रयत्न भी किया था, किन्तु उन्हें राम के साथ रहने और उनकी सेवा करने में ही

सुख था। वे अत्यन्त लाड़-प्यार से पाली गयी थीं, राजा दशरथ ने उन्हें नयन पलक की नाईं रखने की व्यवस्था की थी तथा कौशल्या ने भी उन्हें बड़े प्रेम से रखा था और दिया की बत्ती उसकाने का काम तक नहीं लिया था। फिर भी उन्होंने पति के साथ घोर कष्ट सहना ही श्रेयस्कर समझा था। वे पातिव्रत की प्रत्यक्ष मूर्ति थीं। रावण के द्वारा अपहृत होने और नाना प्रकार से सताये जाने पर भी वे राम के प्रति पूर्ववत् दृढ़ रहीं और प्राणों का मोह छोड़कर बन्दिनी होते हुए भी उन्होंने रावण को दुतकार दिया था।

सीता

वे राम के सङ्केत समझकर तदनुसार काम करने में भी दक्ष थीं। जिस समय गङ्गा पार करने पर राम को सङ्कोच हुआ था कि मैंने केवट को कुछ उतराई नहीं दी उस समय उनको चिन्तित देखकर वे झट ताड़ गयीं। तुलसी ने लिखा है कि—

पिय हिय की सिय जाननिहारी, मनि मुँदरी मन मुदित उतारी।

भारतीय नारी का शील उनके चरित्र में निखर आया था ग्राम-बालाओं ने प्रश्न किये कि ये ,सरद सर्वरीनाथ मुख और सरद सरोरुह नैन, सुषमा-अयन श्याम-गौर आपके कौन हैं, तब उन्होंने पहले लक्ष्मण का परिचय देते हुए कहा कि ये मेरे 'लघु देवर' हैं और फिर राम का परिचय कैसी शिष्टता और चतुरता से दिया! कवि कहते हैं—

बहुरि बदन बिधु अञ्चल ढाँकी, पिय तन चितै भौंह करि बाँकी।
खञ्जन मञ्जु तिरीछे नैननि, निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि।

सीता अयोध्या की महादेवी थीं। फिर भी पति-परायणा होने के कारण पति-सेवा से विमुख नहीं होती थीं। इतना ही नहीं, वे कौशल्यादि सासों की सेवा भी निरभिमान भाव से किया करती थीं। गोस्वामीजी उनके सम्बन्ध में कहते हैं—

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी, विपुल सदा सेवा विधि गुनी।

थे। तप के फलस्वरूप उन्होंने ब्रह्मा से 'भगवन्त पद कमल में अनुराग' की याचना की थी। उन्हें रावण के अनाचार अप्रिय थे। इसी से उन्होंने हनुमान को सीता के निवास-स्थान की ठीक सूचना दे दी थी। उन्होंने रावण को समझाने की भी चेष्टा की थी कि सीता को लौटाकर राम से मेल कर लो, किन्तु उसके मन पर उनकी बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। अन्त में तिरस्कृत होने पर उन्होंने सबको सूचित करके राम की शरण में जाना ही श्रेयस्कर समझा। वहाँ पहुँचते ही राजनीति-विशारद राम ने तुरन्त उन्हें लङ्केश बना दिया। तब तो उन्होंने लङ्केश बनने के लिए नहीं, राम के स्वभाव और न्याय पक्ष के प्रति आकृष्ट होकर जी खोलकर राम का साथ दिया और रावण-वध की युक्ति बतलाकर राम का काम बनाया। उन्हें अपने भाई से प्रेम था इसकी सूचना कवि ने रावण के मारे जाने के अनन्तर दी है। वे कहते हैं—बन्धु दसा बिलोकि दुख कीन्हा। फिर राज्य पाने पर उन्होंने राम से लङ्का चलने और वहाँ की सम्पदा कपियों को प्रदान करने की प्रार्थना की थी। राम के कहने से उन्होंने पुष्पक पर चढ़कर आकाश से मणियों और वस्त्रों की वर्षा करके कपियों को स्वेच्छानुसार उन्हें लेने का अवसर दिया था। अपने वंश के साथ द्रोह करने पर भी विभीषण को गोस्वामीजी ने राम-भक्त होने के कारण ही निन्दनीय नहीं ठहराया।

विभीषण

राम का जो कुछ महत्त्व है वह रावण के कारण ही प्रकट हुआ है। वह इतना बड़ा वीर था कि उसके सामने त्रैलोक्य में कोई नहीं ठहर सका। उसने सारी ब्रह्म-सृष्टि को अपने वश में कर लिया था। सूर्य, शशि, पवन, वरुण, यम आदि नित्य उसके सामने सिर झुकाया करते थे। लोकपाल उसके बन्दी गृह में पड़े सड़ते थे—लोकप जाके बन्दीखाना। उसने एक प्रकार से मृत्यु को अपनी मुट्ठी में कर लिया था। शक्ति के मद में चूर होकर उसने

रावण

देव, यक्ष, गन्धर्व, नर, किन्नर, नाग सब की बहुत-सी सुन्दरी नारियों से विवाह किया था। इसी मद में आकर उसने सीता को भी चुराकर अपनी गृहिणी बनाना चाहा। उन्होंने उसकी ओर आँख उठाकर न देखा, साथ ही वे हो गयीं उसके लिए काल-स्वरूपा। शूर्पणखा ने खरदूषण के ससैन्य संहार की घटना बतलाकर रावण को राम की शक्ति की सूचना दी थी, फिर भी उसने हठ करके उनसे बैर ही किया। वह अपने निश्चय में दृढ रहा। जिस किसी ने उसे उससे डिगाना चाहा उसको उसने मार भगाया अथवा उसकी उपेक्षा कर दी। उस पर प्रहस्त, माल्यवान, विभीषण और शुक की बातों का उलटा ही प्रभाव पड़ा; माल्यवान, विभीषण और शुक को तो उसने अपने यहाँ से चले जाने को भी कह दिया। उसकी इस अदूरदर्शिता का ही परिणाम यह हुआ कि विभीषण ने राम को उसकी सारी गुप्त बातें बतला दीं और जब कभी मेघनाद अथवा रावण आत्म-शक्ति का सञ्चय करने के लिए यज्ञ करने लगते तब वहीं विभीषण तत्काल उसकी सूचना देकर उसमें विघ्न डालने की प्रेरणा किया करता।

रावण बड़ा हठी था। उसने अपने हितैषियों के समझाने को अन-सुना तो कर ही दिया; अपने वंश और दल का संहार अपनी आँखों देखकर भी राम से मेल करना स्वीकार न किया। परन्तु वह असाधारण वीर था। उसके युद्ध-कौशल के सामने न जाने कितनी बार राम की सेना में भगदड़ मची, न जाने कितनी बार कितने लोग घायल हुए तथा मारे गये और कितनी बार राम के विजयी होने ही में सन्देह के अवसर उपस्थित हुए। उसका शौर्य प्रशंसनीय था। कवि ने तो यहाँ तक कह दिया है कि राम-रावण के सङ्ग्राम का वर्णन अनेक कल्प तक किया जाने पर भी पूरा नहीं हो सकता। फिर भी अन्त में राम का पुरुषार्थ उसके पराक्रम से सवाया सिद्ध हुआ, और उसने समर-भूमि में उनके हाथ वीरगति पायी।

श्रीराम के पक्ष और विपक्ष के अवशिष्ट व्यक्तियों के चरित्र इतने कम हैं कि उनकी चर्चा मात्र हो सकती है, विवेचना नहीं। इससे उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं जान पड़ता।

भाव-प्रवणता

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित के मर्म स्थलों को पहचान कर अपनी सहृदयता का परिचय दिया है यह हम यथास्थान दिखला आये हैं। उन प्रसङ्गों में उन्होंने विविध मानसिक दशाओं का बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया है। कुछ उदाहरण लीजिये। बालक राम की लीलाओं में बाल-सुलभ स्वाभाविकता मिलती है। देखिये न,

भोजन करत बोल जब राजा, नहिं आवत तजि बाल समाजा।
कौसल्या जब बोलन जाई, ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई।
निगम नेति सिव अन्त न पावा, ताहि धरै जननी हठि धावा।
धूसर धूरि भरें तनु आये, भूपति बिहँसि गोद बैठाये।
भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ।

राम के सौन्दर्य में जो आकर्षण था उसका गोस्वामीजी ने बड़े ही प्रभावशाली ढङ्ग से वर्णन किया है—यह उस रूप के व्यापक प्रभाव के प्रदर्शन के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। उस सौन्दर्य में औरों की अपेक्षा स्त्रियों के लिए बड़ा ही आकर्षण था। गोस्वामीजी ने उसका दिग्दर्शन किया है, किन्तु सर्वत्र मर्यादापूर्ण और संयम की रक्षा करते हुए। पहले उस शोभा का शब्द-चित्र लीजिये, फिर उसको देखने पर जनकपुर की स्त्रियों की मानसिक प्रतिक्रिया देखिये—

पीत बसन परिकर कटि भाथा, चारु चाप सर सोहत हाथा।
तन अनुहरत सुचन्दन खोरी, स्यामल गौर मनोहर जोरी।
केहरि कन्धर बाहु बिसाला, उर अति रुचिर नागमनि-माला।

सुभग सोन सरसीरुह लोचन, बदन मयङ्क ताप त्रय मोचन।
कानन्हि कनक फूल छवि देहीं, चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं।
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी, तिलक रेख सोभा जनु चाँकी।
रुचिर चौतनीं सुभग सिर, मेचक कुञ्चित केस।
नखसिख सुन्दर बन्धु दोउ, सोभा सकल सुदेस।

ऐसे दर्शनीय राजकुमारों के आगमन का समाचार नगर में बिजली के समान फैल गया। सब अपने अपने घरों के काम-काज छोड़ दौड़ पड़े, परन्तु स्त्रियाँ इस प्रकार सड़क में आकर राम-लक्ष्मण के पीछे-पीछे नहीं चल सकती थीं। राजा जनक के नगर की महिलाएँ अमर्यादित तो नहीं हो सकतीं। राम-लक्ष्मण पुर की शोभा देखते हुए राजपथ पर धीरे-धीरे जा रहे हैं, उनके पीछे बालक-वृन्द चल रहा है—बालक वृन्द देखि अति सोभा, लगे सङ्ग लोचन मनु लोभा। ऊपर से झरोखों में बैठी स्त्रियाँ राम का रूप देखकर आपस में बातें कर रही हैं। कोई कहती है—

सुर नर असुर नाग मुनि माहीं, सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं।
बय किसोर सुषमा सदन, स्याम गौर सुख धाम।
अङ्ग अङ्ग पर वारिअहिं, कोटि कोटि सत काम।

जान पड़ता है दूसरी स्त्री ने उनके विषय में पहले से सुन रखा था। वह राम और लक्ष्मण का परिचय देती है। उन दिनों यज्ञ में आये हुए सभी राजा नगर से निकला करते होंगे। उन्हें स्त्रियाँ कुतूहलवश देखा करती होंगी। परन्तु राम को देखते ही वे सीता के लिए उपयुक्त वर का निश्चय कर लेती हैं—

देखि राम छवि कोउ एक कहई, जोगु जानकिहि यह बरु अहई।
सौं सखि इन्हहिं देख नरनाहू, पन परिहरि हठि करै बिबाहू।

इतने में कोई बोल उठती है कि राजा जनक इन्हें पहले ही देख चुके हैं, परन्तु वे विधिवश अविवेक में पड़े हैं। इससे अपना प्रण न छोड़ेंगे।

यह सुनते ही भट से

कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता, सब कहुँ सुनिअ उचित फलदाता।

तौ जानकिहि मिलिहि बर एहू, नाहिन आलि इहाँ सन्देहू।

इसी प्रकार कोई शङ्कर के धनुष की कठोरता और राम की कोमलता की तुलना करके सीता और राम के विवाह को असम्भव बतलाती है, तो चट दूसरी राम के द्वारा अहल्योद्धार को सूचित करके उनका प्रभाव जताती है और बड़े विश्वास से कहती है—

जेहिं बिरञ्चि रचि सीय सँवारी, तेहिं स्यामल बर रचेउ बिचारी।

इस प्रकार, स्त्रियों ने राम को सीता के उपयुक्त वर समझकर पहले से उनका गठ-बन्धन निश्चित कर दिया। उस समय नगर भर में सीता के विवाह की धूम मची थी। फिर स्त्रियाँ राम को देखकर और किस विषय की चर्चा करतीं? राम के रूप पर मोहित होकर वे अपने मन में वासना को उदय होने देतीं तो तुलसी की पुनीत सृष्टि नहीं कहलातीं। तो फिर उनके मोहित होने पर शृङ्गार-रस की यही दिव्य-धारा बहनी स्वाभाविक ही थी।

जब लक्ष्मण और सीता के साथ राम वन-पथ के पथिक थे तब मार्ग के गाँवों के नर-नारी भी उन पर मोहित हो गये थे। उनका आगमन सुनि सब बाल-बृद्ध नर-नारी, चलहिं तुरत गृह-काज बिसारी। कुछ राम को देख चितवत चले जाहिं सँग लागे, और कुछ नयन मग छबि उर आनी, होहिं सिथिल तन मन बर बानी। परन्तु कुछ न तो राम के साथ-साथ जाते हैं, और न उनके ध्यान में मग्न होकर जहाँ के तहाँ रह जाते हैं। उनकी चतुराई का चारु चित्र देखिये।

एक देखि बट छाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।

कहहिं गँवाइअ छिनुकु स्रमु, गवनब अबहिं कि प्रात॥

एक कलस भरि आनहिं पानी, अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी।

सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी, रामु कृपालु सुसील बिसेखी।

जानी स्त्रमित सीय मन माहीं, घरिक बिलम्बु कीन्ह बट छाहीं।
मुदित नारि नर देखहिं सोभा, रूप अनूप नयन मनु लोभा।
एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा, रामचन्द्र मुख चन्द्र चकोरा।
तरुन तमाल बरन तनु सोहा, देखत कोटि मदन मनु मोहा।
दामिनि बरन लखन सुठि नीके, नख सिख सुभग भावते जी के।
मुनि पट कटिन्ह कसें तूनीरा, सोहहिं कर कमलनि धनु तीरा।

जटा मुकुट सीसनि सुभग, उर भुज नयन बिसाल।
सरद परब बिधु बदन बर, लसत स्वेद कन जाल।

राम लखन सिय सुन्दरताई, सब चितवहिं चित मन मति लाई।
थके नारि नर प्रेम पिआसे, मनहुँ मृगी मृग देखि दिआ से।

इधर तो पुरुष ध्यानस्थ हो राम-लक्ष्मण का रूप देखते थे उधर

सीय समीप ग्राम तिय जाहीं, पूँछत अति सनेह सकुचाहीं।
राजकुमारि बिनय हम करहीं, तिय सुभाय कछु पूँछत डरहीं।
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी, बिलगु न मानब जानि गँवारी।
राजकुँअर दोउ सहज सलोने, इन्ह तें लही दुति मरकत सोने।

स्यामल गौर किसोर बर, सुन्दर सुखमा ऐन।
सरद-सर्बरीनाथ मुखु, सरद सरोरुह नैन।

कोटि मनोज लजावनिहारे, सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।

तब

सुनि सनेहमय मञ्जुल बानी, सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी।
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी, बोली मधुर बचन पिकबयनी।
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी, दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे, नामु लखनु लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन बिधु अञ्चल ढाँकी, पिय तन चितै भौंह करि बाँकी।
खञ्जन मञ्जु तिरीछे नयननि, निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि।

भईं मुदित सब ग्राम बधूटीं, रङ्कन्ह राय-रासि जनु लूटी।

इस प्रकरण में ऐसा ही पुष्ट और भी वर्णन है, किन्तु विस्तार-भय से उसे उद्धृत न कर इसके विषय में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि गोस्वामीजी ने स्त्रियों के हृदय के उद्‌गारों में शुद्ध, निर्विकार और पवित्र भावना की अभिव्यक्ति कराते समय भी उसका बहुत ही हृदय-हारी प्रदर्शन किया है!

सीता और राम का फुलवारी में मिलन तो प्रेम के स्वाभाविक, परन्तु दिव्य वर्णन के लिए आदर्श है। वहाँ सीता को राम के आगमन की सूचना बड़े ही स्वाभाविक ढङ्ग से मिलती है—

एक सखी सिय सङ्ग बिहाई, गई रही देखन फुलवाई।
तेइ दोउ बन्धु बिलोके जाई, प्रेम बिबस सीता पहिं आई।
तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन।
कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन।

तब वह सखी बोली कि

देखन बाग कुअँर दुइ आये, बय किसोर सब भाँति सुहाये।
स्याम गौर किमि कहउँ बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

यह

सुनि हरषीं सब सखी सयानी, सिय हियँ अति उत्कण्ठा जानी।
एक कहइ नृप सुत तेइ आली, सुने जे मुनि सँग आये काली।
जिन्ह निज रूप मोहनी डारी, कीन्हे स्वबस नगर नर नारी।
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू, अवसि देखिअहिं देखन जोगू।

इतना सुनना था कि

तासु बचन अति सियहि सोहाने, दरस लागि लोचन अकुलाने।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई, प्रीति पुरातन लखै न कोई।

इधर से जानकीजी राम की ओर बढ़ीं और उधर फूल चुनते समय, अपनी ओर सहेलियों के साथ सीता के आने के

कारण

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदयँ गुनि।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्ही, मनसा विस्व विजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा, सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।
भये विलोचन चारु अचञ्चल, मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल।

फिर कुछ देर तक राम अपने मन में जानकी के सौन्दर्य के विषय में सोचते रहे कि

जनु विरञ्चि सब निज निपुनाई, विरचि विस्व कहँ प्रगट जनाई।
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई, छविगृहँ दीपसिखा जनु बरई।

इसके पश्चात् वे अपने भाव लक्ष्मण से बतलाने लगे। उधर

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गये नृप किसोर मनु चिन्ता।
जहँ विलोक मृग सावक नैनी, जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी।
लता ओट तब सखिन लखाये, स्यामल गौर किसोर सुहाये।
देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छवि देखें, पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें।
अधिक सनेह देह भै भोरी, सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हें पलक कपाट सयानी।

इसी समय

लता भवन तें प्रकट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद पटल विलगाइ।

सोभा सींव सुभग दोउ बीरा, नील पीत जलजाभ सरीरा।
मोर पङ्ख सिर सोहत नीके, गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के।
भाल तिलक स्रमबिन्दु सुहाये, स्रवन सुभग भूषन छवि छाये।
विकट भृकुटि कच घूँघरवारे, नव सरोज लोचन रतनारे।
चारु चिबुक नासिका कपोला, हास विलास लेत मनु मोला।
मुख छवि कहि न जाइ मोहि पाहीं, जो विलोकि बहु काम लजाहीं।

उर मनि माल कम्बु कल ग्रीवा, काम कलभ कर भुजबल सींवा।

केहरि कटि पट पीत धर, सुषमा शील निधान।

देखि भानुकुल भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान।

उधर ध्यान-मग्ना सीताजी से किसी सखी ने कहा कि

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू, भूप किशोर देखि किन लेहू।

तब तो वे आँखें भर कर राम को देर तक देखती रहीं। जब सखियों ने नित्य नियम की अपेक्षा उस दिन गौरी-पूजन में विलम्ब होते देखा तब कोई बोली पुनि आउब एहि बिरियाँ काली। अब सीता को वहाँ से चलना ही पड़ा। परन्तु वहाँ से चलकर भी

देखन मिस मृग बिहग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।

निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि।

प्रबन्ध काव्य में नायक और नायिका के प्रथम मिलन का ऐसा शिष्ट, साथ ही साङ्गोपाङ्ग चित्रण तुलसी ही कर सकते थे।

जिस समय भरत चित्रकूट पहुँचकर मन्दाकिनी के तट पर सब लोगों को छोड़ कर शत्रुघ्न और गुह को साथ ले राम से मिलने जा रहे थे उस समय उनके मन का सजीव चित्र देखिये—

समुझि मातु करतब सकुचाहीं, करत कुतरक कोटि मन माहीं।

रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ, उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ।

मातु मते महुँ मानि मोहि, जो कछु कहहिं सो थोर।

अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर।

जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी, जौं सनमानहिं सेवकु मानी।

मोरें सरन रामहि की पनही, राम सुस्वामि दोसु सब जनही।

जग जस भाजन चातक मीना, नेम पेम निज निपुन नवीना।

अस मन गुनत चले मग जाता, सकुच सनेहँ सिथिल सब गाता।

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी, चलत भगति-बल धीरज-धोरी।

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ, तब पथ परत उताइल पाऊ।

भरत-दसा तेहि अवसर कैसी, जल प्रवाहँ जल-अलि गति जैसी।

यहाँ भरत का अन्तर्द्वन्द्व और राम के प्रति अटल अनुराग कैसा खोलकर रख दिया गया है! वे सोचते हैं कहीं राम मेरा नाम सुनते ही अन्यत्र तो न चले जायँगे! माता का मतानुयायी समझ वे जो करें वह थोड़ा होगा. परन्तु अपनी ओर देखेंगे तो उदारता से मेरा कल्पित अपराध क्षमा कर ही देंगे। मुझे चाहे छोड़ें, चाहे रखें, मैं तो राम की ही शरण में हूँ। राम स्वामी ठहरे, दोष तो सेवक में होता है। मेरे तो आदर्श चातक और मीन हैं, जिनका अटल नेम और अविचल प्रेम सदा नया बना रहता है, भले ही मेघ वा जल उन्हें उसका बदला न दें। माँ की की हुई बुराई का ध्यान उन्हें आगे बढ़ने से रोकता था, किन्तु भक्ति का बल आगे बढ़ाता था। और जब राम का स्वभाव स्मरण आता था, तब वे विह्वल हो जाते थे। उनके पैर लटपटाने लगते। उनकी दशा पानी के भौंर की-सी हो रही थी।

प्राकृतिक चित्र

मानव-प्रकृति के पारखी तुलसी ने मानसिक दशाओं के न जाने कितने ऐसे ही मार्मिक चित्र अङ्कित किये हैं। *मानस* उनसे भरा पड़ा है। उपर्युक्त उद्धरणों की बानगी दिखलाकर, स्थल-सङ्कोच के कारण अन्य प्रकरणों के अच्छे वर्णन उद्धृत करने का लोभ संवरण करना पड़ता है। मनुष्य के हृदय के सच्चे पारखी तुलसी ने प्रकृति की सुषमा भी आँखें खोलकर, साथ ही आँख भरकर देखी थी। उन्होंने पम्पा सरोवर का प्रतिबिम्ब इस प्रकार झलका दिया है—

बिकसे सरसिज नाना रङ्गा, मधुर मुखर गुञ्जत बहु भृङ्गा।
बोलत जल-कुक्कुट कल हंसा, प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा।
चक्रवाक बक खग समुदाई, देखत बनइ बरनि नहिं जाई।
सुन्दर खगगन गिरा सुहाई, जात पथिक जनु लेत बोलाई।
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये, चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाये।

चम्पक बकुल कदम्ब तमाला, पाटल पनस पलास रसाला।
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना, चञ्चरीक पटली कर गाना।
सीतल मन्द सुगन्ध सुभाऊ, सन्तत बहै मनोहर बाऊ।
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं, सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं।

इसी प्रकार, मानस में ही नहीं, गीतावली, विनय-पत्रिका आदि में भी उनके प्रकृति पर्यवेक्षण के सुन्दर चित्रण देखने को मिलते हैं।

पशु-पक्षी

सहृदय-शिरोमणि तुलसी की दृष्टि मानव-हृदय और प्रकृति के सौन्दर्य के भीतर पैठने में ही अभ्यस्त न थी, वह सृष्टि के सभी जीवों के अन्तस्तल की दशा देखने का प्रयास किया करती थी। राम के वियोग से

बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं, सरित सरोवर देखि न जाहीं।

और

हय गय कोटिन्ह केलि मृग, पुर पसु चातक मोर।
पिक रथाङ्ग सुक सारिका, सारस हंस चकोर।
राम वियोग विकल सब ठाढ़े, जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े।

जानकी ने जनकपुर में शुक-सारिका पाल रखे थे। उनके वहाँ से अयोध्या जाते समय उनकी क्या दशा हुई थी?

सुक सारिका जानकी ज्याये, कनक पिञ्जरन्हि राखि पढ़ाये।
व्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही, सुनि धीरजु परिहरइ न केही।

और देखिये राम के वियोग का प्रभाव घोड़ों पर। बहुत समझा-बुझाकर गुह ने सुमन्त्र को रथ पर बैठाकर अयोध्या भेजा, परन्तु

सोक सिथिल रथु सकइ न हाँकी, रघुबर बिरह पीर उर बाँकी।
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे, बन मृग मनहु आनि रथ जोरे।
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछें, राम-बियोगि बिकल दुख तीछें।
जो कह रामु लखनु बैदेही, हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही।
बाजि बिरह गति किमि कहि जाती, बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती।

इस प्रकार मनुष्येतर प्राणियों के मर्म को भी पहचानने में प्रवीण तुलसी ने *मानस* में मानसिक दशाओं और प्राकृतिक रूपों की

रसात्मकता

बड़ी ही मनोमोहक छवि उरेही है। इसी अवसर पर हमें यह भी देखते चलना चाहिये कि *मानस* में विविध भावों की रसात्मक अनुभूति कहाँ तक करायी गयी है। सीता और राम के पवित्र प्रेम की झलक ऊपर दिखलायी जा चुकी है। उसकी आवृत्ति अनावश्यक है। और सीता का हरण हो जाने पर राम के विलाप में 'वियोग शृङ्गार' का हृदयग्राही रूप देखा जाता है। राम ने वियोग दशा का चरमोत्कर्ष उस समय प्रदर्शित किया जिस समय वे पूछत चले लता तरु पाती कि—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी, तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ?

फिर उन्होंने अपने मन में वसन्त के प्रभाव का जो अनुभव किया उसको लक्ष्मण से यों बतलाया—

देखहु तात बसन्त सुहावा, प्रियाहीन मोहि भय उपजावा।

बिरह बिकल बलहीन मोहि, जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल।
देखि गयउ भ्राता सहित, तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब, कटकु हटकि मनजात।

बिटप बिसाल लता अरुझानी, बिबिध बितान दिये जनु तानी।
कदलि ताल बर ध्वजा पताका, देखि न मोह धीर मन जाका।
बिबिध भाँति फूले तरु नाना, जनु बानैत बने बहु बाना।
कहुँ कहुँ सुन्दर बिटप सुहाये, जनु भट बिलग बिलग होइ छाये।
कूजत पिक मानहुँ गज माते, ढेक महोख ऊँट बिसराते।
मोर चकोर कीर बर बाजी, पारावत मराल सब ताजी।
तीतिर लावक पदचर जूथा, बरनि न जाइ मनोज बरूथा।
रथ गिरि सिला दुन्दुभी झरना, चातक बन्दी गुन गन बरना।

मधुकर मुखर भेरि सहनाई, त्रिविध बयारि बसीठीं आई।
चतुरङ्गिनी सेन सँग लीन्हें, विचरत सबहि चुनौती दीन्हें।

'हास्यरस' तो शिव की बारात में प्रवाहित हो ही रहा है। नारद-मोह के प्रकरण में भी उस समय मिलता है जिस समय विश्वमोहिनी जयमाल लेकर आयी और वन्दर के-से मुँह वाले

जेहि दिसि बैठे नारद फूली, सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली।

इस पर

पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं, देखि दसा हरगन मुसुकाहीं।

'करुण' रस का स्रोत अयोध्या और चित्रकूट से फूट निकला था। राजा के मरने पर राज-भवन और नगर उसमें डूब गया था। चित्रकूट में जनक-समाज पर उस करुणा-सरिता का प्रभाव यह हुआ था—

आश्रम सागर सान्तरस, पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुना सरित, लिये जाहिं रघुनाथु।

बोरति ग्यान बिराग करारे, बचन ससोक मिलत नद नारे।
सोच उसास समीर तरङ्गा, धीरज तट तरुवर कर भङ्गा।
बिषम बिषाद तोरावति धारा, भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा।
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा, सकहिं न खेइ ऐक नहीं आवा।
बनचर कोल किरात बिचारे, थके बिलोकि पथिक हियँ हारे।
आश्रम उदधि मिली जब जाई, मनहुँ उठेउ अम्बुधि अकुलाई।
सोक बिकल दोउ राज समाजा, रहा न ग्यानु न धीरजु लाजा।
भूप रूप गुन सील सराही, रोवहिं सोकसिन्धु अवगाही।

अवगाहि सोक-समुद्र सोचहिं नारि नर ब्याकुल महा।
दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा।

'रौद्र' का रूप भी चित्रकूट में लक्ष्मण प्रत्यक्ष दिखला देते हैं। सेना लेकर आते हुए भरत के आगमन की सूचना पाते ही वे उबल

पड़ते हैं—

अनुचित नाथ न मानब मोरा, भरत हमहि उपचार न थोरा।
कहँ लगि सहिअ रहिअ मन मारें, नाथ साथ धनु हाथ हमारें।
छत्रि जाति रघुकुल जनमु, राम अनुग जगु जान।
लातहुँ मारें चढ़ति सिर, नीच को धूरि समान।
उठि कर जोरि रजायसु माँगा, मनहुँ बीररस सोवत जागा।
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा, साजि सरासन सायकु हाथा।
आजु राम सेवक जसु लेऊँ, भरतहि समर सिखावनु देऊँ।
राम निरादर कर फलु पाई, सोवहुँ समर सेज दोउ भाई।
आइ बना भल सकल समाजू, प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू।
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू, लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।
तैसेहिं भरतहि सेन समेता, सानुज निदरि निपातउँ खेता।
जौं सहाय कर संकरु आई, तौ मारउँ रन राम दोहाई।
अति सरोष माखे लखनु, लखि सुनि सपथ प्रवान।
सभय लोक सब लोकपति, चाहत भभरि भगान।

'भयानक' 'अद्भुत' और 'वीभत्स' रसों का रूप लङ्कादहन के प्रसङ्ग में देखने को मिलता है। और वीर रस का परिपाक राम और रावण के रोमाञ्चकारी सङ्ग्राम में हुआ है। इसके अतिरिक्त 'शान्तरस' तो सारे काव्य में ओत-प्रोत है। एक प्रकार से वही *मानस* का प्रधान रस है। स्थल-सङ्कोच के कारण इनके उदाहरण नहीं दिये जाते। ऊपर निर्दिष्ट स्थलों में देखकर उक्त सब रसों की अनुभूति की जा सकती है। तब यह कहना उचित ही होगा कि *मानस* में जीवन की व्यापक झाँकी के साथ ही अवसर के अनुसार रसात्मक वर्णन की छटा मन को मुग्ध कर लेती है।

अलङ्कृति

गोस्वामी तुलसीदास ने 'मति-अनुरूप राम गुन' गाने के लिए ही

'मानस' की रचना की थी। उन्होंने यह खुलकर कहा था कि

> कवि न होउँ नहिं वचन प्रबीनू, सकल कला सब बिद्या हीनू।
> आखर अरथ अलङ्कृति नाना, छन्द प्रबन्ध अनेक बिधाना।
> भाव भेद रस भेद अपारा, कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।
> कबित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

क्या अभिधा की दृष्टि से अर्थ करने पर उनका यह कथन सच है? सच तो यह है कि काव्य के बाह्य और आन्तरिक सभी उपकरण *मानस* में विद्यमान हैं। भाव भेद और रस भेद अपारा का किञ्चित् परिचय अभी ऊपर दिया जा चुका है। यहाँ यह देखना है कि गोस्वामीजी कितने वचन-प्रवीन थे। और आखर अरथ अलङ्कृति नाना से सँवारी हुई रचना करने में कितने कुशल थे। यहाँ उन्होंने अपनी जो कवित्व-विवेक से अनभिज्ञता की चर्चा की है वह केवल इसलिए कि वास्तव में काव्य-कौशल दिखलाने और पाण्डित्य प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने कविता नहीं की थी। उन्होंने तो काव्य-रचना के लिए राम का गुण-गान ही अपने काव्य का उद्देश्य बनाया था। उसमें चेष्टा करके अलङ्कृति लाने का प्रयास नहीं किया, वह तो अपने आप आ गयी है। उनकी रचना में कहीं भी प्रयत्न-साध्य काव्य-चमत्कार नहीं मिलता। उसमें वह सर्वत्र स्वाभाविक रूप में आया है। इसीलिए अलङ्कार-पूर्ण काव्य होते हुए भी *मानस* केशव-जैसे चमत्कारवादी कवियों की रचनाओं के समान दुरूह और अस्वाभाविक नहीं हुआ। *मानस* के अलङ्कारों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे स्वाभाविक सौन्दर्य के उत्कर्ष में सहायक होते हैं। उनसे वर्ण्य विषय चमक उठता है, उसका प्रभाव बढ़ जाता है। वह आँखों के सामने चकाचौंध अथवा विचार-शक्ति के सामने उलझन नहीं उत्पन्न करता। इसी से तुलसी की रचना में कहीं भी दूर की कौड़ी लाने की अस्वाभाविक चेष्टा नहीं दिखलायी पड़ती। सब बातें सरल ढङ्ग से कही गयी हैं। इसी प्रकार, उसमें कहीं अलङ्कार ठूँसे नहीं गये।

वे वर्णन में स्वतः आते गये हैं। वे वर्ण्य, भाव, कार्य, विषय और अर्थ के सौष्ठव को उत्कृष्ट बनाकर अपना काम सिद्ध करते हैं। उनके कारण कथा का प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता, स्वच्छन्द बहता चलता है। तुलसीदास ने शब्दालङ्कारों में एकाध स्थल पर ही चमत्कार-प्रधान श्लेप का प्रयोग किया है, यथा—

सन्तत सुरानीक हित जेही। अथवा—

रावनसिर सरोज बन चारी, चलि रघुबीर सिलीमुख धारी।

किन्तु उक्ति को श्रवण-सुखद बनानेवाला अनुप्रास तो छाया की भाँति उनके पीछे-पीछे चलता था। *मानस* में जहाँ चाहिये उसे देख लीजिये। 'अन्त्यनुप्रास' तो उनके रचे प्रत्येक छन्द में है ही, 'छेकानुप्रास' से मुक्त कदाचित् ही कोई अर्द्धाली निकले और 'वृत्यनुप्रास' भी बहुत प्रयुक्त हुआ है। नीचे कुछ उदाहरण देखिये और मन चाहे तो *मानस* का कोई भी स्थल स्वेच्छानुसार चुन लीजिये, वहीं आपको किसी भी प्रयास के बिना तत्काल अनुप्रास की स्वाभाविक छटा देखने को मिलेगी—

(१) मातु पिता भगिनी प्रिय भाई, प्रिय परिवार सुहृद समुदाई।
सासु ससुर गुर सजन सहाई, सुत सुन्दर सुसील सुखदाई।
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते, पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते।

(२) धर्म धुरीन धीर नय नागर, सील सनेह सत्य सुखसागर।

(३) बिधि कैकेयी किरातिनि कीन्हीं, जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं।

(४) जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू, मोहि पद पदुम पखारन कहहू।

(५) काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जान।

इसी प्रकार यमक अलङ्कार भी *मानस* में अपने अकृत्रिम रूप में मिलता है। उदाहरणार्थ—

(१) मूरति मधुर मनोहर देखी, भयेउ बिदेह बिदेह बिसेखी।

(२) अस मानस मानस चख चाही, भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही।

(३) भव भव बिभव पराभव कारिनि, बिस्व बिमोहिनि स्ववस बिहारिनि।

अन्य शब्दालङ्कारों में पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति आदि के भी अनेक उदाहरण *मानस* से दिये जा सकते हैं। इनके सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी चाहिये। कहा जा चुका है कि गोस्वामीजी ने कहीं भी प्रयत्न करके इन अलङ्कारों के लाने के लिए कविता नहीं की, ये उनकी उक्तियों में आप से आप आते गये हैं। इसी से ये नितान्त स्वाभाविक लगते हैं। और तभी ये उक्ति की शोभा बढ़ाने में स्वाभाविक ढङ्ग से सहायता पहुँचाकर अपनी सच्ची अलङ्कारता सार्थक करते हैं।

गोस्वामीजी ने अर्थालङ्कारों का भी प्रचुर प्रयोग किया है। उनके द्वारा भी सर्वत्र भाव अथवा वस्तु के सौन्दर्य की वृद्धि में सहायता मिली है। इन अलङ्कारों में सादृश्यमूलक अलङ्कार ही विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। सादृश्यमूलक अलङ्कारों में भी उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का प्रयोग अधिक हुआ है। इनमें अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के उत्कर्ष की सिद्धि हुई है। संस्कृत में कालिदास की उपमायें बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में तुलसीदास की उपमायें भी अनूठी हैं। इनमें कुछ उपमाओं में तो 'कवि-समय' के अनुसार मान्य उपमानों से उपमेय की श्रीवृद्धि की गयी है, किन्तु अनुभव और प्रत्यक्ष दर्शन के सहारे भी, परम्परामुक्त उपमानों का प्रयोग कम नहीं हुआ। कुछ सब प्रकार के उदाहरण लीजिये—

चित्रकूट की सभा में देव-माया के वश में पड़े लोगों की दशा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

> [illegible] चित्र लिखे से, सकुचत बोलत बचन सिखे से।

गंगा की ग्राम-वधूटियाँ असीसती हैं—

> [illegible] होहू, देवि न हम पर छाड़ब छोहू।

लक्ष्मण जनक-सभा में प्रतिज्ञा करते हैं—

> [illegible] अनुशासन पावौं, कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं।

काँचे घट जिमि डारौं फोरी, सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी।

धनुष उठाने के लिए जाते समय राम के प्रति पुरवासियों के ये उद्गार हैं—

बंदि पितर सब सुकृत सँभारे, जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे।
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं, तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं।

इन उदाहरणों में परम्परा-प्रसिद्ध उपमानों का ही प्रयोग किया है। फिर भी उनके द्वारा उपमेय के उत्कर्ष की वृद्धि हुई है। इससे वे काव्योचित हैं। अब उपमा के कुछ परम्परा-मुक्त तथा नवीन श्रेष्ठतर उदाहरण लीजिये। भरत और शत्रुघ्न अयोध्यावासियों और सेना के साथ रामचन्द्र को मनाने के लिए चित्रकूट पहुँचने ही वाले थे। लक्ष्मण ने उनके आने की सूचना पाकर उत्तेजित होकर कहा—

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू, लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।
तैसेहिं भरतहि सेन समेता, सानुज निदरि निपातउँ खेता।

इसमें 'सेन समेत भरत' को 'करि निकर' (हाथियों का समूह) मानकर उसको दलने वाले लक्ष्मण के लिए 'मृगराज' (सिंह) उपमान का प्रयोग किया गया है और सानुज (अर्थात् अनुज—शत्रुघ्न—सहित) भरत को 'लवा' कहकर 'बाज' उपमान का। अकेला सिंह हाथियों के झुण्ड को नष्ट कर देता है। वह आकार में हाथियों से छोटा होते हुए भी अपनी शक्ति की अधिकता के कारण ऐसा करता है। लक्ष्मण भरत के छोटे भाई हैं फिर भी वे अकेले भरत तथा विशाल राघवी सेना को नष्ट कर देंगे। इसी से यह उपमा बड़ी सटीक बैठती है। आगे देखिये। शत्रुघ्न लक्ष्मण से छोटे हैं। लवा भी बाज से छोटा होता है। इसी से शत्रुघ्न को लवा मानकर लक्ष्मण को बाज माना गया है। एक ही व्यक्ति के लिए दो कैसे सुन्दर उपमानों का प्रयोग हुआ है!

मनु ने भगवान से वर माँगा था—

मनि बिनु फनि जिमि जलु बिनु मीना, मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना।

इसमें जीवन के लिए मणि-विहीन सर्प और जल-विहीन मीन—इन दो उपमानों का प्रयोग किया गया है। सर्प मणि को स्वेच्छा से अलग रख देता है और तब उसके छिन जाने पर अपने प्राण दे देता है। मछली किसी दूसरे के द्वारा पानी से अलग की जाती है। तब अपने प्राण त्याग देती है। मनु के कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे मैं अपनी इच्छा के अनुसार तुम्हें अलग करूँ, चाहे दूसरे के इच्छानुसार, किसी भी दशा में तुम मुझसे अलग हो जाओ मैं दोनों दशाओं में जीवित न रहूँ। मनु की इसी अभिलाषा को ध्यान में रख कर नीचे लिखी उक्ति की सार्थकता देखिये। दशरथ ने कैकेयी को वर दिया राम के वनवास का। वे व्याकुल हुए और बोले—

जिअइ मीन वरु वारि विहीना, मनि विनु फनिकु जिअइ दुख दीना।
कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं, जीवनु मोर रामु विनु नाहीं।

और जिस समय सुमन्त्र राम को लिवाकर महाराज दशरथ के पास पहुँचे थे उस समय उन्होंने जिस रूप में उन्हें देखा था उसका वर्णन इस उत्प्रेक्षा के द्वारा कितना अच्छा उतरा है—

सूखहिं अधर जरइ सब अंगू, मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू।

तथा जब राजा ने आँख खोलकर राम को देखा तब भी इसी प्रकार की सुन्दर उत्प्रेक्षा के द्वारा कवि ने वर्णन किया है, क्योंकि कैकेयी राम को उनसे वलपूर्वक ही तो छीन रही थी—

लियेउ सनेह विकल उर लायी, गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पायी।

प्राण त्यागते समय दशरथ की दशा का वर्णन भी इसी प्रकार की उत्प्रेक्षा के द्वारा किया गया है—

प्रान कंठगत भयउ भुआलू, मनि विहीन जनु व्याकुल व्यालू।

जब वनवास से पूर्व रामचन्द्रजी दशरथ से मिले थे तब बड़ी देर तक वे उन्हें देखते ही रह गये थे और बहुत सी बातें सोचते जाते

थे। उस समय का वर्णन है—

अस मन गुनइ राउ नहिं बोला, पीपर पात सरिस मन डोला।

कहीं कहीं तो तुलसीदासजी ने मालोपमा के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। 'राम-कथा' के सम्बन्ध में उपमाओं की सुन्दर माला देखिये—

असुर सेन सम नरक निकंदिनि, साधु विबुध कुल हित गिरिनंदिनि।
संत समाज पयोधि रमा सी, बिस्व भार भर अचल छमा सी।
जम गन मुँह मसि जग जमुना सी, जीवन मुकुति हेतु जनु कासी।
रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी, तुलसिदास हित हियँ हुलसी सी।
सिवप्रिय मेकल सैल सुता सी, सकल सिद्धि सुख संपति रासी।
सदगुन सुरगन अंब अदिति सी, रघुबर भगति प्रेम परिमिति सी।

और राम के गुण-ग्राम की यह मालोपमा कैसी बनी है—

हरन मोह तम दिनकर कर से, सेवक सालि पाल जलधर से।
अभिमत दानि देव तरु बर से, सेवत सुलभ सुखद हरि हर से।
सुकबि सरद नभ मन उडगन से, राम भगत जन जीवन धन से।
सकल सुकृत फल भूरि भोग से, जग हित निरुपधि साधु लोग से।
सेवक मन मानस मराल से, पावन गङ्ग तरङ्ग माल से।

कवितावली में भी मालोपमा का यह सुन्दर उदाहरण देखते ही बनता है—

कीर के कागर ज्यों नृपचीर विभूषन उप्पम अङ्गनि पाई।
औध तजी मगवास के रूख ज्यों पंथ के साथी ज्यों लोग-लुगाई।
संग सुबंधु पुनीत प्रिया मनो धर्म-क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं।

प्रतीप भी उपमा का ही रूपान्तर है, जिसमें उपमेय का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए उपमा के ढङ्ग में उलट-फेर कर दिया जाता है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) बिदा किये बटु बिनय करि, फिरे पाइ मन काम।

उतरि नहाने जमुन जल, जो सरीर सम स्याम।

(२) राज कुँअर दोउ सहज सलोने, इन्ह ते लही दुति मरकत सोने।

(३) भूपति भवन सुभाय सुहावा, सुरपति सदन न पटतर पावा।

(४) बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं, सीय बदन सम हिमकर नाहीं।

(५) , नील सरोरुह नील मनि, नील नील धर स्याम।

लाजत तनु सोभा निरखि, कोटि कोटि सत काम।

उत्प्रेक्षा में भी उपमा के समान ही अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का उत्कर्ष बढ़ाया जाता है। जैसे—

लता भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।

निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद पटल बिलगाइ।

जनक-वाटिका में घने लता-मण्डप से निकलते हुए राम-लक्ष्मण के मुख-चन्द्र की शोभा का यह सुन्दर वर्णन है। इसी प्रकार, धनुष-यज्ञ में उपस्थित राम को देखने के लिए उत्सुक, किन्तु लज्जाशीला, जानकी के सम्बन्ध की यह उत्प्रेक्षा भी बड़ी सुन्दर है—

प्रभुहि चितइ पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल।

खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु-मंडल डोल।

जनक-वाटिका में राम को देखने के लिए उतावली जानकी की

इसी प्रकार, अन्यत्र पैरत थके थाह जनु पाई ! तथा सूखत धान परा जनु पानी भी सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ हैं। राम के वियोग में तड़पती हुई कौशल्या की दशा पर भी कवि ने बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

मलिन बसन बिबरन बिकल, कृस सरीर दुखभारु।
कनक कलपबर-बेलि-बन, मानहुँ हनी तुसारु॥

इसमें गौर वर्ण वाली कौशल्या के दुःख के कारण सूखकर काली पड़ जाने का, पाला पड़ जाने पर सूखी और काली कनक-लता से किया गया साम्य दर्शनीय है।

युद्ध-वीर राम के क्षत-विक्षत शरीर के सौन्दर्य पर नीचे लिखी उत्प्रेक्षा कैसा अच्छा रूप-सादृश्य प्रस्तुत करती है—

सिर जटा मुकुट-प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नील गिरि पर तडित-पटल समेत उडुगन भ्राजहीं।
भुज दण्ड सर-कोदण्ड फेरत रुधिर-कन तन अति बने।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने।

रूपक अलङ्कार तो गोस्वामीजी को अत्यन्त प्रिय जान पड़ता है। *मानस* में न जाने कितने परम्परित और साङ्ग रूपक से अलङ्कृत वर्णन भरे पड़े हैं। सुमन्त्र राम के वियोग में व्याकुल होकर कहते हैं—

हृदय न बिदरेउ पङ्क जिमि, बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहिं दीन्ह बिधि, यहु जातना सरीरु।

वर्षा के अनन्तर नदी का पानी घटने लगता है। कीचड़ निकल आता है। सूर्य की तीखी किरणों के पड़ने से वह पानी सूख जाता है। मिट्टी फट जाती है। अपने प्रीतम पानी के वियोग से मानो उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। कीचड़ की छाती तो प्रीतम के वियोग से फट जाती है, परन्तु सुमन्त्र की छाती राम के वियोग से नहीं फटती ! उनके वियोग का कैसा सजीव चित्रण है !

कैकेयी राजा दशरथ से राम के वनवास के सम्बन्ध में जो

अप्रिय बातें कह रही थी उनका उत्प्रेक्षा-समन्वित रूपक देखिये—

जीभ कमान वचन सर नाना, मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना।

इसमें धनुष विद्या सीखने की कल्पना ने अनभ्यस्त वीर के प्रहारों से शरीर में जहाँ-तहाँ लगने वाली चोटों का रूप खड़ा कर दिया है। इससे रूपक कठोरता का सजीव चित्र उपस्थित कर रहा है। कैकेयी की इसी प्रकार की कठोरता का यह परम्परित रूपक भी दर्शनीय है—

भूप मनोरथ सुभग वनु, सुख सुविहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति, वचन भयङ्कर वाजु।

उत्प्रेक्षा से पुष्ट रूपक की नीचे लिखी छटा भी देखते ही बनती है! इसमें कैकेयी का रोष प्रत्यक्ष हो रहा है—

होत प्रात मुनि-वेषु धरि, जौं न रामु वन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजसु, नृप समुझिअ मन माहिं॥

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी, मानहुँ रोष-तरङ्गिनि बाढ़ी।
पाप पहार प्रगट भइ सोई, भरी क्रोध-जल जाइ न जोई।
दोउ वर कूल कठिन हठ धारा, भँवर कूबरी-वचन-प्रचारा।
ढाहत भूपरूप तरु मूला, चली विपति वारिधि अनुकूला।

साङ्ग रूपक के उदाहरण के लिए *मानस* के प्रथम सोपान में 'मानस रूपक', 'कविता सरिता', 'रघुवर बाल-सूर्य', द्वितीय सोपान में 'प्रयाग-राज', 'अहेरी चित्रकूट', 'करुणा-सरिता' तथा अन्तिम सोपान में 'ज्ञान दीपक' और 'भक्ति मनि' के वर्णन विशेष रूप से देखने योग्य हैं। इन सब में गोस्वामीजी ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत के विविध अवयवों का सादृश्य भली भाँति प्रदर्शित किया है। विस्तृत वर्णन होने पर भी कहीं किसी प्रकार की कमी नहीं दिखलायी देती। ये रूपक बहुत लम्बे हैं। इससे इन्हें पूरा-पूरा यहाँ उद्धृत करने में असमर्थता बाधक हो रही है। फिर भी उदाहरणार्थ केवल *मानस* का

यह रूपक देखिये—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू, वेद पुरान उदधि घन साधू।
वरषहिं राम सुजस वर वारी, मधुर मनोहर मङ्गलकारी।
लीला सगुन जो कहहिं बखानी, सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।
प्रेम भगति जो बरनि न जाई, सोइ मधुरता सुसीतलताई।
सो जल सुकृत सालि हित होई, राम भगत जन जीवन सोई।
मेधा महि गत सो जल पावन, सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन।
भरेउ सुमानस सुथल थिराना, सुखद सीत रुचि चारु चिराना।

सुठि सुन्दर संवाद वर, विरचे बुद्धि विचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि।

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना, ग्यान नयन निरखत मन माना।
रघुपति महिमा अगुन अबाधा, बरनब सोइ वर वारि अगाधा।
राम सीय जस सलिल सुधासम, उपमा बीचि बिलास मनोरम।
पुरइनि सघन चारु चौपाई, जुगुति मञ्जु मनि सीप सुहाई।
छन्द सोरठा सुन्दर दोहा, सोइ बहुरङ्ग कमल कुल सोहा।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा, सोइ पराग मकरन्द सुबासा।
सुकृत पुञ्ज मञ्जुल अलि माला, ग्यान बिराग विचार मराला।
धुनि अवरेब कवित गुन जाती, मीन मनोहर ते बहुभाँती।
अरथ धरम कामादिक चारी, कहब ग्यान बिग्यान बिचारी।
नव रस जप तप जोग बिरागा, ते सब जलचर चारु तडागा।
सुकृती साधु नाम गुन गाना, ते विचित्र जल विहग समाना।
सन्त सभा चहुँ दिसि अँबराई, श्रद्धा रितु बसन्त सम गाई।
भगति निरूपन बिबिध बिधाना, छमा दया दम लता बिताना।
सम जम नियम फूल फल ग्याना, हरि पद रति रस वेद बखाना।
औरउ कथा अनेक प्रसङ्गा, तेइ सुक पिक बहु बरन बिहङ्गा।

पुलक बाटिका बाग वन, सुख सुबिहङ्ग बिहारु।

एहि विधि उपजइ लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय-सम तूल ॥

अलङ्कार अगणित हैं और गोस्वामीजी ने *मानस* तथा अन्य काव्यों में न जाने कितने अन्य अलङ्कारों का प्रयोग किया है। उन सबका पूरा विवेचन सीमित क्षेत्र के भीतर करना असम्भव है। अतएव इतने अल्प विवेचन से ही विवश हो सन्तुष्ट रहना पड़ता है। इन अलङ्कारों के विषय में इतना और सूचित करना है कि प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत आने से ये कथा अथवा वर्णन में बाधा नहीं पहुँचाते। यदि थोड़ी देर के लिए अलङ्कार से ध्यान हटा लिया जाय तो भी कहीं वर्णन का प्रवाह नहीं रुकता। अन्यत्र तो ऐसा है ही, लम्बे लम्बे साङ्ग रूपकों तक में यह बात पायी जाती है। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त मानस-रूपक लीजिये और उसका अलङ्करण हटाकर जो प्रकरणगत अभिप्राय है उसे कुछ इस रूप में देखिये—साधु, वेद और पुराणों से राम-यश लेकर वर्णन करते हैं। राम की सगुण लीला में प्रेम और भक्ति होती है, उससे सुकृत बढ़ता है, जिससे राम-भक्त पोषित होता है। मैंने उस राम-कथा को कानों से सुनकर मेधा में धारण किया, फिर उससे *मानस* बनाया, जिसमें चार संवाद हैं, सात प्रबन्ध हैं, रघुपति की महिमा की गहराई है, राम और सीता का यश है, उपमायें, चौपाइयाँ, छन्द, सोरठे और दोहे हैं, अनुपम अर्थ और सुन्दर भाषा है, उसमें सुकृत पुञ्ज, ज्ञान विराग, ध्वनि, अवरेब (व्यङ्ग्य), गुण जाति अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, ज्ञान, विज्ञान, नवरस, जप, तप, योग आदि रहेंगे। उसमें साधु और सन्तों की सभा का वर्णन रहेगा, श्रद्धा, भक्ति, क्षमा, दया, सम, यम, नियम, वेद वर्णित भगवद्-भक्ति तथा अन्य दूसरी कथाएँ होंगी। उसे पढ़ते समय शरीर पुलकित होगा, मन को सुख मिलेगा और श्रोता अपने नेत्रों के जल से उसे सींचा करेंगे।

किया। उसने अपनी अगणित सेना को आज्ञा दी—

सुनहु सकल रजनीचर जूथा, हमरे बैरी बिबुध बरूथा।
ते सनमुख नहिं करहिं लराई, देखि सबल रिपु जाहिं पराई।
तेन्ह कर मरन एक बिधि होई, कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई।
द्विज भोजन मख होम सराधा, सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा।

इस प्रकार उसने पहले यज्ञ, जप, तप, श्राद्ध, ब्राह्मण-भोजन आदि को बन्द करके लोक में दैवी शक्ति को निर्बल करने का आयोजन किया और फिर अशक्त हुए देवताओं को अपने वश में कर लिया—

रबि ससि पवन बरुन धनधारी, अगिनि काल जम सब अधिकारी।
किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा, हठि सबहीं के पंथहिं लागा।

तदनन्तर उसके सहचरों ने खुलकर वे काम किये जिनसे वैदिक धर्म निर्मूल हो गया—

जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला, सो सब करहिं बेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं, नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं।

इसका दुष्परिणाम यह हुआ—

सुभ आचरन कतहुँ नहि होई, देव बिप्र गुरु मान न कोई।
नहिं हरि भगति जग्य तप ग्याना, सपनेहुँ सुनिअ न वेद पुराना।
जग जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा।
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह वेद पुराना।
बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥
बाढ़े खल बहु चोर जुआरा, जे लम्पट परधन परदारा।
मानहिं मातु पिता नहिं देवा, साधुन सन करवावहिं सेवा।

इस अनीतिमय राक्षसी प्रभाव को दूर करने के लिए ही श्रीराम-

चन्द्र का आविर्भाव हुआ, जिनके जीवन और पुरुपार्थ का विशद वर्णन *मानस* में गोस्वामीजी ने किया। अन्त में उन्होंने राम-राज्य का वर्णन कर यह प्रदर्शित किया कि रावण के अत्याचार से त्रस्त लोक को कैसा सुख मिला और राम के काम व्यक्तिगत राग-द्वेष से प्रेरित साधारण राजा के-से काम न रहकर लोकसंहारी शक्ति के विनाशक तथा लोक-हितकारी कार्यों के विधायक, लोक-नायक, के काम हुए। उस राम-राज्य की छटा देखने पर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उसकी स्थापना ही सच्चे धर्म-राज्य की स्थापना थी—रावण के अधर्म-पूर्ण निरङ्कुश शासन के स्थान पर विश्व-सुखद दैवी सम्पत्ति से पूर्ण धर्म-राज्य की स्थापना थी। रामराज्य में लोक की क्या दशा हुई यह देखिये—

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन, रहहिं एक सँग गज पञ्चानन।
खग मृग सहज बयरु बिसराई, सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई।
कूजहिं खग मृग नाना बृन्दा, अभय चरहिं बन करहिं अनन्दा।
सीतल सुरभि पवन बह मन्दा, गुञ्जत अलि लै चलि मकरन्दा।
लता बिटप मागें मधु चवहीं, मनभावतो धेनु पय स्रवहीं।
ससि सम्पन्न सदा रह धरनी, त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी।
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी, जगदातमा भूप जग जानी।
सरिता सकल बहहिं बर बारी, सीतल अमल स्वाद सुखकारी।
सागर निज मरजादाँ रहहीं, डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं।
सरसिज संकुल सकल तडागा, अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।

बिधु महि पूर मयूखन्हि, रबि तप जेतनेहि काज।
मागें बारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज॥

और रावण के राज्य में आसुरी वृत्तियों से परिपूर्ण हो गये लोगों की मानसिक स्थिति में रामराज्य आने पर क्या परिवर्तन हुआ यह भी देखते चलिये—

राम राज बैठें त्रैलोका, हरषित भये गये सब सोका।

बयरु न कर काहू सन कोई, राम प्रताप विषमता खोई।
बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग।
दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहि व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।
चारिउ चरन धर्म जग माहीं, पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं।
राम भगति रत नर अरु नारी, अकल परम गति के अधिकारी।
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा, सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना।
सब निर्दम्भ धर्मरत पुनी, नर अरु नारि चतुर सब गुनी।
सब गुनग्य पण्डित सब ग्यानी, सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।
राम राज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहिं नाहिं।

जहाँ रावण के प्रभाव से लोग—

मानहिं मातु पिता नहिं देवा, साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।

वहाँ अब राम के प्रभाव से

सब उदार सब पर उपकारी, बिप्र चरन सेवक नरनारी।
एकनारि व्रत रत सब झारी, ते मन बच क्रम पति हितकारी।

इस प्रकार लोक सब प्रकार से भौतिक सम्पत्ति से ही युक्त नहीं हुआ, अपितु आध्यात्मिक सम्पत्ति से सम्पन्न हुआ और वह आध्यात्मिकता लोगों के मन वा वचन में ही सीमित नहीं रही, अपितु उनके आचरण में उतर आयी। राम ने अपने आचरण के द्वारा जो आदर्श लोक के सम्मुख रखा था वह कोरा आदर्श न रह गया, लोग-व्यवहार का अङ्ग बन गया—लोगों के जीवन में ढल गया। यही राम-राज्य की सच्ची स्थापना थी, जिसको गोस्वामीजी ने अपने मानस में उतार लिया है।

राम-विषयक अन्य काव्य

१. कवितावली

गोस्वामीजी ने *रामचरितमानस* के अतिरिक्त जिन काव्यों में राम-कथा का वर्णन किया है उनमें *कवितावली* और *गीतावली* मुख्य हैं। *कवितावली* मानसेतर अन्य *रामायणों* के समान बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लङ्का और उत्तर—इन सात काण्डों में विभाजित है। इसमें राम-चरित मुख्य रूप से सवैया तथा कवित्त (घनाक्षरी) में वर्णित है। इनके अतिरिक्त कुछ स्थलों में झूलना और छप्पय का भी प्रयोग हुआ है। बाल से लेकर लङ्काकाण्ड तक राम-चरित का चित्रण है और उत्तर काण्ड में कवि के सिद्धान्त, राम-भक्ति के महत्त्व के प्रति विश्वास, आत्म-विश्वास, आत्मग्लानि तथा आत्मचरित सम्बन्धी उक्तियों के अतिरिक्त तत्कालीन देश की दशा के विषय में भी बहुत से छन्द हैं। साथ ही, कुछ ऐसे कवित्त भी हैं जिनमें काशी की तत्कालीन स्थिति का वर्णन है। १३३, १३४, १३५ संख्यक दो सवैयों और एक कवित्त में श्रीकृष्ण से सम्बद्ध भ्रमर-गीत के प्रकरण का वर्णन है। इसी ग्रन्थ का अन्तिम खण्ड *हनुमान बाहुक* है। उसमें छप्पय, झूलना, घनाक्षरी और मत्तगयन्द सवैया में कवि के हनुमान-सम्बन्धी उद्‌गार हैं। इनमें कुछ छन्दों में हनुमान के पौरुष का उल्लेख है। शेष में कवि का ऐसा आत्म-निवेदन है, जिसमें शारीरिक व्यथाओं से मुक्ति के लिए उन्होंने हनुमान से सहायता की प्रार्थना की है। इनसे कवि के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ स्थितियों का भी बोध होता है।

विषय-परिचय

यह ग्रन्थ प्राञ्जल व्रज भाषा में रचा गया है। यद्यपि इसमें राम के जन्म से लङ्का-विजय तक का आख्यान क्रम-बद्ध रूप से वर्णित है

तथापि इसे प्रबन्ध न मानकर मुक्तक काव्य समझना ही समीचीन प्रतीत होता है। कारण, इसमें राम-कथा के कुछ विशिष्ट प्रकरणों का ही भाव-पूर्ण वर्णन मिलता है; सारी कथा के प्रबन्ध का यथेष्ट रूप से निर्वाह नहीं हुआ। यथा, अरण्य काण्ड में केवल एक सवैया है, जिसमें माया मृग के पीछे राम के दौड़ने की घटना का उल्लेख है। किष्किन्धा काण्ड में भी एक कवित्त है। उसमें हनुमान के लङ्का-गमन का कथन मात्र है। शेष काण्डों में भी मुख्य-मुख्य घटनाओं का ही वर्णन है पूरा चित्रण नहीं।

काव्य सौष्ठव

कवितावली में गोस्वामीजी ने सहृदयता और मर्मज्ञता का जैसा अच्छा परिचय दिया है वैसा ही अपनी वर्णन-कुशलता का मनोहर दिग्दर्शन किया है। इसमें राम के बाल रूप की माधुरी और उनकी वन-यात्रा का मार्मिक चित्रण है और लङ्का-दहन के समय तथा युद्ध-क्षेत्र में प्रदर्शित हनुमान के पराक्रम और रण-कौशल का बहुत ही ओज-पूर्ण वर्णन है। लङ्का-दहन के वर्णन में कवि ने घटना के आँखों देखे जैसे संश्लिष्ट चित्रण का चातुर्य प्रत्यक्ष कर दिखाया है। कुछ उद्धरणों की सहायता से गोस्वामीजी की रचना-पटुता दिखाने का प्रयत्न किया जायगा। राम का शिशु रूप कैसा मनोहर है—

> बर दन्त की पङ्गति कुन्दकली, अधराधर-पल्लव खोलन की।
> चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की।
> घुँघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुण्डल लोल कपोलन की।
> निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की।

उनकी बाल-क्रीडाओं की यह झाँकी भी देखते ही बनती है—

> कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
> कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।
> कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।

अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन मन्दिर में बिहरैं।

वन जाने के लिए अयोध्या छोड़ते समय राम का रूप और त्याग कवि ने यों दिखलाया है—

कीर के कागर ज्यौं नृपचीर विभूषन, उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगवास के रूख ज्यौं, पन्थ के साथी ज्यौं लोग-लुगाई।
सङ्ग सुबन्धु पुनीत प्रिया मनो धर्म-क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं॥

वन जाने के लिए सीता के हठ और उन्हें राम के समझाने का विस्तार से वर्णन *मानस* में किया गया है, किन्तु *कवितावली* में इसका अभाव है। इसमें वन जाते समय सीता की कोमलता और राम की सहृदयता के दो अमिट चित्र अङ्कित हुए हैं। अयोध्या से बाहर निकलते ही सीता की जो दशा हुई उसे देखिये—

पुर तें निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै।
फिरि बूझति हैं 'चलनो अब केतिक, पर्न-कुटी करिहौ कित ह्वै?'
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।

मार्ग में चलते-चलते थककर सीता क्षण भर रुककर विश्राम करने का प्रस्ताव कैसे अच्छे ढङ्ग से करती हैं और राम कैसे सुन्दर ढङ्ग से अपना सहृदय रूप और अपनी वनयात्रा सम्बन्धी भावी चिन्ताएँ सूचित करते हैं, इसे यहाँ देखिये—

"जल को गये लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।"
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि बिलम्ब लौं कण्टक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यौ, पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े।

वन-मार्ग के बटोही राम की ऐसी मनोहर मूर्ति गोस्वामीजी ने देखी थी जिसके सौन्दर्य को वे ही अङ्कित कर सकते थे। जी चाहता

है उस छवि को निरन्तर देखा करें—

ठाढ़े हैं नौ द्रुम डार गहे, धनु काँधे धरे, कर सायक लै।
विकटी भृकुटी बड़री अँखियाँ, अनमोल कपोलन की छवि है।
तुलसी असि मूरति आनि हिये जड डारि धौं प्रान निछावरि कै।
स्रम-सीकर साँवरि देह लसै मनो रासि महातम तारक मै।

इसी वनयात्रा के प्रसङ्ग में केवट और राम के मिलन का वह हृदय-स्पर्शी दृश्य देखने को मिलता है जो *मानस* में भी तुलसी को प्रिय था, परन्तु यहाँ केवट की उक्ति बड़ी स्वाभाविक, भोली-भाली और मन को लुभाने वाली है। वह कहता है—

एहि घाट तें थोरिक दूर अहै कटि लौं जल-थाह देखाइहौं जू।
परसे पगधूरि तरै तरनी घरनी घर क्यों समझाइहौं जू।
तुलसी अवलम्ब न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू?
बरु मारिये मोहिं बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू।

तुलसीदासजी को वन-यात्री राम और सीता के प्रति ग्राम-वधूटियों का आकर्षण कितना अच्छा लगता था इसका उल्लेख *मानस* के तत्सम्बन्धी प्रसङ्ग की चर्चा के समय किया जा चुका है। *कवितावली* में भी इस प्रकरण के कुछ हृदयहारी सवैये हैं। ग्राम-बालाओं और सीता के प्रश्नोत्तर का यह रम्य चित्रण दर्शनीय है—

सीस जटा उर बाहु बिसाल बिलोचन लाल तिरीछी-सी भौंहैं।
तून सरासन बान धरे तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं।
सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्रामवधू सिय सों 'कहो साँवरे-से सखि रावरे को हैं?'
सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चली।
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली।
अनुराग-तडाग में भानु-उदै बिगसीं मनो मञ्जुल कञ्ज कली।

गोस्वामीजी ने लङ्का-दहन का प्रत्यक्षदर्शी के समान स्वाभाविक वर्णन किया है। जिस समय रावण के आदेश से हनुमान की पूँछ में कपड़े बाँधकर आग लगायी गयी उस समय का कैसा सटीक वर्णन है—

बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर

खोरि-खोरि धाइ आइ बाँधत लँगूर हैं।

तैसो कपि कौतुकी डरात ढीलो गात कै-कै,

लात के अघात सहै जी में कहै 'कूर हैं'।

बाल किलकारी कै-कै तारी दै-दै गारी देत,

पाछे लागे बाजत निसान ढोल तूर हैं।

बालधी बढ़न लागी, ठौर ठौर दीन्ही आगि,

बिन्ध की दवारि, कैधों कोटि-सत सूर हैं।

लङ्का-दहन के समय हनुमान की प्रज्वलित पूँछ का कैसा विकराल रूप अङ्कित किया गया है—

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानों

लङ्क लीलिबे को काल रसना पसारी है।

कैधौं ब्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु

बीररस बीर तरवारि-सी उघारी है।

तुलसी सुरेस-चाप कैधौं दामिनी-कलाप

कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।

देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं

'कानन उजार्‌यो अब नगर प्रजारी है'।

आग लगने पर लङ्का के निवासियों की घबराहट का कितना सच्चा चित्र सामने आता है—

जहाँ तहाँ बुबुक बिलोकि बुबुकारी देत

"जरत निकेत धाओ धाओ लागि आगि रे।

कहाँ तात मात भ्रात भगिनी भामिनी भाभी
ढोटे छोटे छोहरा अभागे भोरे भागि रे।
हाथी छोरो घोरा छोरो महिष वृषभ छोरो
छेरी छोरो, सोवै सो जगावो जागि जागि रे"।
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
बार बार कह्यो पिय कपि सों न लागि रे।

और

'लागि लागि आगि' भागि-भागि चले जहाँ तहाँ
धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार बसन उघारे धूम धुन्ध अन्ध
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार-बार हीं।
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात बिललात अकुलात अति
"तात तात! तौंसियत झौंसियत झारहीं"।

उस समय हनुमान की स्फूर्ति भी दर्शनीय थी—

बीथिका बजार प्रति अटनि अगार प्रति
पँवरि पगार प्रति बानर बिलोकिये।
अध ऊर्ध बानर, बिदिसि दिसि बानर है
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिये।
मूँदे आँखि हीय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोउ को किये?
लेहु अब लेहु तब कोउ न सिखाओ मानो
सोई सतराइ जाइ जाहि जाहि रोकिये।"

ऐसे ही अनेक छन्दों में गोस्वामीजी ने लङ्का के जलने का चल-चित्र सामने खड़ा कर दिया है। हनुमान ने अपने प्रति

युद्ध कौशल देखते रह गये थे—

हाथिन सों हाथी मारे, घोरे घोरे सों सँहारे
रथनि सों रथ बिदरनि बलवान की।
चञ्चल चपेट चोट चरन चकोट चाहैं,
हहरानी फौजें भहरानी जातुधान की।
बार बार सेवक सराहना करत राम
तुलसी सराहै रीति साहेब सुजान की।
लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट
देखौ देखौ लखन, लरनि हनुमान की।

युद्ध में ही नहीं, कवि ने राम की सहायता के अन्य कार्यों में भी हनुमान की क्षिप्र-गति का प्रदर्शन किया है। जिस समय वे सञ्जीवनी लेकर चले थे उस समय का गोस्वामीजी ने यों चित्रण किया है—

लीन्हो उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलम्ब न लायो।
मारुतनन्दन मारुत को मन को खगराज को बेग लजायो॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानौ प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो।

ऊपर विविध प्रसङ्गों के जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सुन्दर ढङ्ग से प्रयोग हुआ है। सर्वत्र अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के उत्कर्ष की वृद्धि हुई है। गोस्वामीजी ने बहुधा नये उपमानों के द्वारा उपमेय का सौन्दर्य बढ़ाया है; जैसे मन्दोदरी के इस कथन में कि—

कन्त बीस लोचन बिलोकिये कुमंत फल
ख्याल लङ्का लाई कपि राँड की सी झोपरी।

हनुमान के द्वारा लङ्का-दहन की तुलना राँड की झोपड़ी में आग लगाने से की गयी है। तात्पर्य यह कि जैसे राँड की झोपड़ी में आग लगाने पर कोई उसकी रक्षा करने नहीं दौड़ता और वह असहाय जल

जाती है, वैसे ही हनुमान ने लङ्का फूँक दी और कोई उसे बचा न सका। इसी प्रकार लङ्का-दहन में नाश का रूपक देखिये—

तुलसी समिधा सौंज लङ्क जग्य कुण्ड लखि,
जातुधान पुंगीफल जव तिल धान है।
स्रुवा सो लँगूल बलमूल प्रतिकूल हवि,
स्वाहा महा हाँकि हाँकि हुनै हनुमान है।

हनुमान बाहुक में भी कवि की दीनता का पक्ष ही सात्त्विक और हनुमान की शक्ति का अत्यन्त प्रभावशाली एवं विश्वासोत्पादक दर्शन होता है। इसमें भी रूपक एवं अन्य अलङ्कारों का उपयुक्त तथा प्रचुर समावेश हुआ है। इस प्रकार कवितावली में कवि की कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। वे मानस में जिन प्रसङ्गों का विस्तार नहीं कर सके थे उनका इसमें उन्होंने विशद रूप से वर्णन किया है।

२. गीतावली

परिचय

गीतावली की रचना सरस व्रजभाषा के पदों में हुई है। इसमें पूरी राम-कथा का वर्णन क्रमपूर्वक अवश्य है, किन्तु इसे भी प्रबन्ध काव्य की कोटि में नहीं लिया जाता। इसमें भी सात काण्डों में कथा का विभाजन हुआ है। अन्य काण्डों में तो *मानस* के सोपानों के समान ही कथा कही गयी है किन्तु उत्तरकाण्ड में राजाधिराज रामचन्द्र के आनन्दमय गार्हस्थ्य जीवन की झाँकी दिखलायी गयी है। यहाँ उनके रूप के आकर्षण, हिंडोला झूलने और फाग खेलने आदि का विस्तारपूर्वक चित्रण है। इसमें एक और विशेषता है। *मानस* में गोस्वामीजी ने सीता-परित्याग की चर्चा तक नहीं की। केवल उसका चलता-सा सङ्केत यह कह कर कर दिया है कि—दुइ सुत सुन्दर सीता जाये, लव कुस वेद पुरानन गाये। परन्तु *गीतावली* में उन्होंने इस प्रसङ्ग का कई पदों में वर्णन किया है।

साथ ही *मानस* में वर्णित कुछ कथा-प्रसङ्गों का *गीतावली* में आभास-मात्र दिया गया है। जैसे, इसमें परशुराम और राम-लक्ष्मण का संवाद नहीं है और न लङ्कादहन का ही वर्णन है। इनकी सूचना इन रूपों में दी गयी है—

दुसह रोष-मूरति भृगुपति अति नृपति-निकर खयकारी।
क्यों सौंप्यो सारङ्ग हारि हिय करी है बहुत मनुहारी।

कौशल्या की इस उक्ति में परशुराम-मिलन का सङ्केत है। इसी प्रकार सीता के प्रति हनुमान की इस उक्ति से लङ्का-दहन विदित होता है—

लङ्का-दाह उर आनि मानिबो, साँचु राम सेवक को कहिबो।

मानस में रावण के पाद-प्रहार के अनन्तर विभीषण सीधे राम के पास चले गये थे किन्तु *गीतावली* के वर्णन के अनुसार वे पहले अपनी माता के पास गये और फिर उसके परामर्श से राम की शरण पहुँचे। विभीषण की माँ ने उनसे कहा था—

इहाँ ते विमुख भये राम की सरन गये,
भलो नेकु लोक राखे निपट निकाई है।

राम की शरण में जाने के पहले विभीषण कुबेर के पास भी गये। वहाँ उनकी शङ्कर से भेंट हुई। उन्होंने उपदेश किया कि—

राम की सरन जाहि सुदिन न हेरै।

मानस में जनकपुर जाते समय विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को गङ्गावतरण की कथा तो सुनायी थी—गाधिसूनु सब कथा सुनाई, जेहिं प्रकार सुरसरि महि आई—किन्तु *गीतावली* में इतना और अधिक सङ्केत है कि उन्होंने इसके साथ ही अपने वंश की कथा भी सुनायी—बूझत प्रभु सुरसरि प्रसङ्ग कहि निज कुल कथा सुनाई। यही बात *वाल्मीकीय रामायण* में भी है। वहाँ राम-लक्ष्मण को गाधिकुल का वृत्तान्त बहुत विस्तार पूर्वक सुनाया गया है। वन जाने पर रामचन्द्र के कुशल

और कभी सुमित्रा राम को

चुपरि उबटि अन्हवाइकै नयन आँजे,

चिर रुचि तिलक गोरोचन को कियो है।

और फिर उनके बाल-सौन्दर्य का दर्शन करके सारा रनिवास आनन्द-मग्न हो जाता है।

इसी प्रकार राम को पालने में झुलाते समय कौशल्या की लोरियाँ सुनकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता है—

ललन लोने लेरुआ, बलि मैया।

सुख सोइये नींद बेरिया भई चारु-चरित चारयो भैया।

कहत मल्हाइ लाइ उर छिन छिन छगन छबीले छोटे छैया।

मोद कन्द कुल कुमुद चन्द्र मेरे रामचन्द्र रघुरैया।

कुछ बड़े होने पर राम के घुटनों के बल आँगन में दौड़ने, फिर वहाँ चारों भाइयों के खेलने और आगे चलकर सखाओं के साथ अवध की वीथियों में विचरने तथा सरयू-तीर पर चौगान आदि खेलने का मनोमोहक वर्णन करने में कवि ने अपनी सहृदयता का पूरा परिचय दिया है। विश्वामित्र के साथ जाते समय तो उनकी बाल-सुलभ चपलता देखते ही बनती है। मार्ग में कभी वे

पैठत सरनि, सिलनि चढ़ि चितवत खग मृग बन रुचिराई।

सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बुलाई।

धनुपयज्ञ में राम-लक्ष्मण की शोभा देखकर लोगों की जो दशा हुई थी उसका भी उल्लेख किये विना रहा नहीं जाता—

राम लषन जब दृष्टि परे, री!

अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो विधि विविध विदेह करे, री।

धनुषजग्य कमनीय अवनितल कौतुक ही भये आय खरे, री।

छवि सुरसभा मनहुँ मनसिज के कलित कलपतरु रूख फरे, री।

सकल काम बरषत मुख निरखत, करषत चित हित हरष भरे, री।

तुलसी सबै सराहत भूपति भले पैंत पासे सुढर ढरे, री।

इसी अवसर पर *रामचरितमानस* की भाँति *गीतावली* में भी नगर-नारियों की परस्पर बातचीत और भावनाओं का विस्तृत विवरण दिया गया है, जो अपने ढङ्ग का अनूठा है।

विश्वामित्र के साथ जाने के पश्चात् राम के समाचार न मिलने से कौशल्या के मन की क्या दशा थी इसपर भी *गीतावली* में गोस्वामी-जी का ध्यान गया था। वे कहती हैं—

मेरे बालक कैसे धौं मग निबहहिंगे ?
भूख पियास सीत स्रम सकुचनि क्यों कौसिकहिं कहहिंगे !
को भोर ही उबटि अन्हवैहै, काढ़ि कलेऊ दैहै !
को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन सुख लैहै !

इसी प्रकार की भावना श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा ने की थी। सूरदास ने उनके द्वारा जो कुछ कहलाया है वह कौशल्या के भावों से कितना मिलता-जुलता है ! यशोदा कहती हैं—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
तुम तौ टेंव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात समै मेरे लाल लड़ैतेहि माखन रोटी भावै।
अब यह सूर मोहिं निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच।

राम के वन चले जाने पर भी कौशल्या के भावों की उद्भावना करके तुलसीदास ने वात्सल्य प्रेम का अनुपम प्रदर्शन किया है। राम का स्मरण दिलाने वाले न जाने कितने पदार्थ घर में नित्य देखने को मिलते थे। उन्हें देख-देखकर कौशल्या की विक्षिप्तता बढ़ जाती थी—

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नैननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ।

कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सवारे ।
"उठहु तात, बलि मातु बदन पर, अनुजसखा सब द्वारे ।"
कबहुँ कहति यों—"बड़ी बार भइ जाहु भूप पहँ, भैया ।
बन्धु बोलि जेंइय जो भावै गई निछावरि मैया ।"
कबहुँ समुझि बनगवन राम को रहि चकि चित्र लिखी सी ।
तुलसिदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी सी ।

कभी वे राम के वियोग में तड़पते हुए घोड़ों की दशा देखकर कहती हैं—

आली हौं इन्हें बुझावौं कैसे ?
लेत हिये भरि भरि पति को हित मातु हेतु सुत जैसे ।
बार बार हिहिनात हेरि उत जो बोलै कोउ द्वारे ।
अङ्ग लगाइ लिये बारे तें करुनामय सुत प्यारे ।
लोचन सजल सदा सोवत से खान पान बिसराये ।
चितवत चौंकि नाम सुनि सोचत राम सुरति उर आये ।
तुलसी प्रभु के बिरह बधिक हठि राजहंस से जोरे ।
ऐसेहु दुखित देखि हौं जीवति राम लखन के घोरे ।

गीतावली में भी *रामचरितमानस* के सदृश वन के यात्री राम-लक्ष्मण और सीता के प्रति ग्राम-नारियों के प्रेममय उद्‌गार बड़े विस्तार से व्यक्त किये गये हैं। उनमें भी वही तन्मयता और सहृदयता है जो *मानस* के तत्सम्बन्धी वर्णन में मिलती है। यहाँ कई ऐसे पद भी हैं जिनमें इन बटोहियों के चले जाने के बहुत दिनों के अनन्तर भी इनकी स्मृति बनी रहने पर इनके सम्बन्ध की प्रेमभरी भावना प्रकट हुई है। कवि को यह प्रसङ्ग कितना प्रिय था—यह *गीतावली* और *मानस* दोनों में देखा जा सकता है।

गीतावली में और भी अगणित मार्मिक चित्र हैं। उनमें लोक-निन्दिता कैकेयी की करुणाभरी इस मूर्ति पर आकर आँखें टिकी रह

जाती हैं—

कैकेयी जौलौं जियति रही।
तौलौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही।
मानी राम अधिक जननी तें जननिहु गँस न गही।
सीय लषन रिपुदवन राम-रुख लखि सबकी निबही।

गोस्वामीजी ने प्रकृति की रम्यता का भी चित्रण इस गीति-काव्य में किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलङ्कारों के लिए ही उसका उपयोग नहीं किया, प्रत्युत उसका संश्लिष्ट चित्र अङ्कित कर अपनी निरीक्षण-शक्ति के साथ ही सहृदयता का परिचय दिया है। चित्रकूट के वर्णन में उनकी वृत्ति विशेष रूप से रमी है। उसकी सुषमा की एक झलक देखिये—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु प्रवेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत।
चहुँ दिसि बन सम्पन्न बिहँग मृग बोलत सोभा पावत।
जनु सु नरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत।
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृङ्गनि।
मनहुँ आदि अम्भोज बिराजत सेवित सुर मुनि-भृङ्गनि।
सिखर परस घन-घटहिं, मिलति बग पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी।
जलजुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिम्ब तरङ्ग।
मानहुँ जग रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अङ्ग।
मन्दाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे राम भगति के पाछे।

इसी चित्रकूट की वनश्री कैसी सुहावनी थी—

फटिक सिला मृदु बिसाल, सङ्कुल सुरतरु तमाल,
ललित लता जाल हरति छबि बितान की।

मन्दाकिनि तटिनि तीर, मञ्जुल मृग बिहग भीर,
धीर मुनि गिरा गभीर सामगान की।
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुन्दर गिरि निर्भर भर,
जल-कन घन छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, सन्तत बहै त्रिविध बाउ,
जन बिहार बाटिका नृप पञ्चबान की।

गीतावली में गोस्वामीजी ने कुछ मानव-मुद्राओं का निरीक्षण करने में भी अपने दृष्टि-नैपुण्य का प्रदर्शन किया है। मायामृग का पीछा करते हुए अहेरी राम की लक्ष्य-भेद करने में कुशल आँखों को देखिये—

जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सकोरे।

और राम के आगमन की प्रतीक्षा में उत्सुक शबरी की आँखें भी देखने योग्य हैं—

छन भवन, छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै।

उक्ति-सादृश्य

इस काव्य में अनेक स्थलों में मानस की उक्तियाँ प्रायः ज्यों की त्यों प्रयुक्त हुई हैं। यथा, राम-जन्म के समय

पाइ अघाइ असीसत निकसत जाचक जन भये दानी।

और

राम निछावरि लेन को हठि होत भिखारी, बहुरि देत तेहि देखिये मानहुँ धनधारी।

इसमें मानस की यह अर्द्धाली झलक रही है—

सर्बस दान दीन्ह सब काहू, जेहि पावा राखा नहिं ताहू।

इसी प्रकार विश्वामित्र के प्रति दशरथ की उक्ति है—

चरन बन्दि कर जोरि निहोरत कहिय कृपा करि काज।
मेरे कछु न अदेय राम बिनु, देह गेह सब राज।

मानस में राजा ने यही बात यों कही है—

देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं, सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं।

सब सुत मोहि प्रान की नाईं, राम देत नहिं बनइ गोसाईं।

इसी प्रकार *मानस* का बिप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार *गीतावली* में बिप्र साधु सुर धेनु धरनि हित हरि अवतार लयो होकर आया है, उसका विद्यानिधि कहुँ विद्या दीन्ही इसके विद्या दई जानि विद्यानिधि में विद्यमान है, और उसका इन्हतें लही दुति मरकत सोने *गीतावली* में इन्हतें लही है मानो घन-दामिनि दुति मनसिज मरकत सोने हो गया है।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से समता-सूचक उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु स्थानाभाव ऐसा करने में बाधक हो रहा है। ये सादृश्य यह सूचित करते हैं कि तुलसीदासजी को कुछ भाव और विचार इतने प्रिय थे कि उनके वर्णन के विविध स्थलों में शब्द-साम्य तक हो गया है।

३. रामलला-नहछू

यज्ञोपवीत और विवाह दोनों के पहले नहछू होता है। इसमें बटु वा वर के बाल मुँडाये जाते हैं। यज्ञ-मण्डप में स्नान करा के माता उसे गोद में लेकर बैठती है। नाइन उसके नखों को काटती और उन पर महावर लगाती है। इसी घरेलू रीति का इस काव्य में गान है। यह ठेठ अवधी में है। इसमें कुल बीस सोहर छन्द हैं। इस छन्द में रचे गीत पुत्र-जन्म सम्बन्धी उत्सवों और उपनयन, विवाह आदि संस्कारों के समय गाये जाते हैं। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि इस काव्य में रामचन्द्र के विवाह के समय के नहछू का वर्णन है। परन्तु आजकल प्रचलित रामायणों तथा गोस्वामीजी की *मानस* आदि अन्य कृतियों में कहीं भी धनुर्भङ्ग के पश्चात् राम के अयोध्या लौट आने का उल्लेख नहीं मिलता। इसमें बनि बनि आवति नारि जानि गृह मायन हो में मायन (मातृका आनयन अर्थात् मातृका—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा—इन सात देवियों—का पूजन) को देखकर उक्त विचार के विद्वानों का

ग्रन्थ-परिचय

अनुमान है कि यह विवाह के पहले वर के द्वारा किया गया मातृका-पूजन ही है। इसी से वे कहते हैं कि इसे विवाह के पहले का नहछू समझना चाहिये। परन्तु उपनयन के पहले भी मातृका-पूजन होता है और इसमें आजु अवधपुर आनँद नहछू राम क हो, तथा कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो और नगर सोहावन लागत बरनि न जातै हो में इस काव्य में अयोध्या का स्पष्ट निर्देश है। तो फिर कैसे कहा जाय कि यह विवाह के समय का नहछू है? कारण, विवाह के लिए राम अयोध्या से तो गये ही नहीं! किन्तु इसमें वर्णित कुछ कृत्यों के वर्णन से भी इसे विवाह के समय का नहछू समझा जा सकता है। इसमें बरायन लेकर लोहारिन, दहेंडी लेकर अहीरिन, बीड़ा लेकर तँबोलिन, जोड़ा लेकर दर्जिन, पनही लेकर मोचिन, मौर लेकर मालिन, छाता लेकर बारिन और नहरनी लेकर नाइन के माँडव (मण्डप) के नीचे आने का उल्लेख है। परन्तु उपवीत संस्कार के समय भी यही सब कृत्य होते हैं। और एक सोहर में राम के लिए 'वर' तथा 'दूलह' का प्रयोग हुआ है—गोद लिये कौसिला बैठि रामहि वर हो। सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो। अन्यत्र भी 'दूलह' का प्रयोग हुआ है—दूलह कै महतारि देखि मन हरषत हो। इससे भी कुछ लोगों का अनुमान है कि यह विवाह के पहले का नहछू है। परन्तु यज्ञोपवीत के समय गाये जाने वाले गीतों में भी ये शब्द आया करते हैं। अतः केवल इन शब्दों के आधार पर इसे विवाह के समय का नहछू न मानना चाहिये। सब बातों पर विचार करके इस कृति को उपनयन के समय का ही नहछू मानना समीचीन जान पड़ता है। उसी समय राम अयोध्या में उपस्थित थे।

कवित्व

इस काव्य में थोड़े से शृङ्गार-पूर्ण वर्णन हैं। वैसे वर्णन गोस्वामीजी के दूसरे काव्यों में नहीं मिलते। परन्तु आनन्दोत्सव के समय दिखलायी पड़ने वाले उल्लास

का चित्रण होने से ये वर्णन अनुचित न समझे जाने चाहिये। यह काव्य स्त्रियों के गाने के लिए रचा गया है। इससे इसकी पदावली कोमल और रचना-शैली प्रवाह-पूर्ण है। इसमें वस्तुओं और व्यापारों के चित्र बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से अङ्कित हुए हैं। नहछू की योजना देखिये—

आले हि बाँस के माँडव मनिगन पूरन हो।
मोतिन्ह झालरि लागि चहूँ दिसि झूलन हो।
गङ्गाजल कर कलस तौ तुरित मँगाइय हो।
जुवतिन्ह मङ्गल गाइ राम अन्हवाइय हो।
गजमुकुता हीरा मनि चौक पुराइय हो।
देइ सुअरघ राम कहँ लेइ बैठाइय हो।

कवि की आँखें पुष्प-माल से विभूषित राम के वक्षस्थल एवं उनकी जावक से रञ्जित उँगलियों पर भी पड़ी थीं—

अतिसय पुहुप क माल राम-उर सोहइ हो।
तिरछी चितवनि आनँदमनि मुख जोहइ हो।
नख काटत मुसुकाहिं बरनि नहिं जातहि हो।
पदुमराग मनि मानहुँ कोमल गातहि हो।
प्रभु कर चरन पछालि तौ अति सुकुमारी हो।
जावक रचित अँगुरियन्ह मृदुल सुढारी हो।

उस समय होने वाले स्वाँगों की सूचना देकर कवि ने नहछू के लोक प्रचलित रूप को भी ग्रहण किया है। कहते हैं—हिलिमिलि करत सवाँग सभै रसकेलि हो।

इस छोटे से वर्णनात्मक काव्य में भी गोस्वामीजी ने राम के दिव्य रूप का सङ्केत करने का अवसर भी निकाल ही लिया था—

जो पगु नाउनि धोवइ राम धोवावइँ हो।
सो पगधूरि सिद्ध मुनि दरस न पावइँ हो।

४. बरवै रामायण

परिचय

इस उनहत्तर बरवै छन्द के लघुकाय प्रबन्ध-काव्य में रामचरित का अत्यन्त सङ्क्षिप्त रूप में वर्णन है। इसमें सात काण्ड हैं। बाल काण्ड में जनकपुर के रनिवास में सीता और राम के सौन्दर्य के वर्णन के अतिरिक्त धनुर्भङ्ग की घटना का उल्लेख है। अयोध्या काण्ड में राम के वनवास, वन-गमन, गङ्गासन्तरण और वाल्मीकि-मिलन की चर्चा है। अरण्य में शूर्पणखा के लक्ष्मण के पास जाने, हेम-हरिण और सीता-हरण के कारण राम की व्याकुलता का वर्णन है। किष्किन्धा में हनुमत्-मिलन; सुन्दर में अशोक वाटिका में सीता की दशा और उनसे हनुमान की बातचीत तथा लङ्का में राम की असङ्ख्य सेना का सङ्केत है। उत्तर-काण्ड में राम के सम्बन्ध में कवि के भक्ति-विषयक उद्गार और सिद्धान्त कहे गये हैं। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि इसमें राम-चरित सम्बन्धी केवल इनी-गिनी घटनाओं का ही वर्णन है।

वर्णन-साम्य

गीतावली के समान *बरवै रामायण* में भी कुछ स्थलों में *रामचरितमानस* से मिलती-जुलती पदावली का प्रयोग हुआ है। यथा, *बरवै रामायण* में मन्थरा कैकेयी से कहती है—

सात दिवस भये साजत सकल बनाउ।
का पूछहु सुठि राउर सरल सुभाउ।

मानस में यही बात उसने यों कही है—

भयउ पाख दिन सजत समाजू, तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू!

तथा—

का पूँछहु तुम्ह अबहुँ न जाना।

और

तुम्हहि न सोच सोहाग बल, निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुहु मीठ नृपु, राउर सरल सुभाउ॥

वन-यात्री राम-लक्ष्मण के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

कोउ कह नर नारायन हरि हरि कोउ,
कोउ कह विहरत वन मधु मनसिज दोउ।

मानस में इन्हीं के विषय में ये बातें कही गयी हैं—

नर नारायन सरिस सुभ्राता, जगपालक त्रिसेष जन त्राता।

और राम, सीता तथा लक्ष्मण के विषय में कहा गया है—

जनु मधु मदन मध्य रति लसई।

मानस में विरहिणी सीता की उक्ति है—

त्रिरह अगिनि तनु तूल समीरा, स्वास जरइ छन माहँ सरीरा।
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी, जरै न पाव देहिं त्रिरहागी।

और *बरवै रामायण* में वे इसी बात को इस प्रकार कहती हैं—

त्रिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ, ए अँखियाँ दोउ वैरिनि देहिं बुझाइ।

इस छोटे से काव्य में गोस्वामीजी ने जीवन के कुछ मर्म-स्थलों का ही निर्देश किया है। जनकपुर की नारियों के मन में राम के रूप का जो प्रभाव पड़ा था उसका विशद वर्णन *मानस* और *गीतावली* में किया गया है। यहाँ भी तुलसी उसकी झलक दिखलाने का लोभ संवरण नहीं कर सके। कोई स्त्री उनके सौम्य रूप को देखकर कहती है—

कवित्व

साधु सुसील सुमति सुचि सरल सुभाव,
राम नीतिरत, काम कहाँ यह पाव?
कुङ्कुम तिलक भाल, स्रुति कुण्डल लोल,
काक पच्छ मिलि, सखि, कस लसत कपोल!
भाल तिलक सर, सोहत भौंह कमान,
मुख अनुहरिया केवल चन्द समान।
तुलसी बङ्क बिलोकनि मृदु मुसुकानि,
कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि!

चन्दन चन्दा कह उगत ज्ञान निदान,
कहीं न कबहूँ मनहुँ भाँहि समान।

सीताजी हनुमान से अपनी विरह-जन्य दशा की व्यञ्जना करती हैं--

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ,
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ।

कनिष्ठिका में पहनने की मुँदरी कङ्कण हो जाती है! शरीर की क्षीणता का कैसा सजीव साँचा खड़ा कर दिया गया है!

केशवदास ने हनुमानजी से राम की क्षीणता का ऐसा ही सङ्केत सीताजी को दिलाया था। सीताजी बार-बार मुद्रिका से राम का समाचार पूछती थीं और वह चुप थी। इस पर अशोक वृक्ष से हनुमानजी बोले—

तुम पूछति कहि मुद्रिके, मौन होत यहि नाम।
कङ्कन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम।

बरवै रामायण में तुलसीदासजी ने अलङ्कारों का भी सुन्दर विधान किया है। सीता के सौन्दर्य की व्यञ्जना करते समय 'व्यतिरेक' का कैसा अच्छा प्रयोग हुआ है!

सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर,
सीय अङ्ग, सखि, कोमल कनक कठोर।
सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ,
निसि मलीन वह, निस दिन यह बिगसाइ।

राम के चरण-कमल का यह 'व्यतिरेक'-पूर्ण वर्णन भी बहुत प्रभावशाली है। कोई वनवासी स्त्री कहती है—

कमल कण्टकित सजनी, कोमल पाइ,
निसि मलीन, यह प्रफुलित नित दरसाइ।

सीता के शरीर के सम्पर्क में आने पर हार उसी वर्ण का हो

जाता है। यहाँ 'मीलित' अलङ्कार दर्शनीय है—

सिय तुव अङ्ग रङ्ग मिलि अधिक उदोत,
हार बेलि पहिरावौं चम्पक होत।

इसी प्रकार कभी चम्पा का हार 'उन्मीलित' का उदाहरण प्रस्तुत करता है—

चम्पक हरवा अँग मिलि, अधिक सोहाइ,
जानि परै सिय हियरे, जब कुँभिलाइ।

उनके केशों में गुथे मोती भी थोड़ी देर के लिए अपना रूप बदल देते हैं। वे उनसे अलग होने पर ही पहचाने जा सकते हैं। 'अतद्गुण' का बड़ा ही मनोहर वर्णन है—

केस मुकुत सखि, मरकत मनिमय होत,
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत।

सीता और राम के सौन्दर्य की समता करती हुई कोई सखी व्यङ्ग्य-पूर्ण परिहास करती हुई 'प्रतीप' का प्रयोग करती है—

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह,
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह।

इसी प्रकार मृग के पीछे दौड़ते हुए राम की मुद्रा का सौन्दर्य निभाते हुए गोस्वामीजी 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार पूर्ण उक्ति कहते हैं—

जटा मुकुट कर सर धनु, सँग मारीच,
चितवनि बसति कनखियनु अँखियनु बीच।

इन अलङ्कृत उक्तियों में गोस्वामीजी ने वस्तु वा भाव के उत्कर्ष बढ़ाने का ही ध्यान रखा है, कहीं भी केवल अलङ्कार का उदाहरण देने का खिलवाड़ नहीं किया है।

५. जानकी मङ्गल

यह *मङ्गल* छन्द में रचित प्रबन्ध-काव्य है। इसमें सीता और राम के विवाह का वर्णन है। इसकी कथा *मानस* में उल्लिखित

तद्विषयक आख्यान के समान ही है। इसमें *मानस* के फुलवारी-वर्णन, लक्ष्मण-दर्प और परशुराम सम्बन्धी आख्यान नहीं हैं। जनक के द्वारा धनुष-यज्ञ दिखलाते समय राम के सौन्दर्य का प्रदर्शन है। साथ ही, उन्हें देखकर नारियों, जनक की रानी, सीता आदि के भावों और विचारों का *मानस* के सदृश ही वर्णन है। इसके आगे, विवाह के वर्णन में भी *मानस* के वर्णन से साम्य है। कहीं-कहीं तो इसकी शब्दावलि तक *मानस* में ज्यों की त्यों मिल जाती है। जैसे,

परिचय

मानस से सादृश्य

रूप रासि जेहि ओर सुभाइ निहारइ
नील कमल सर स्रेनि मयनु जनु डारइ

में *मानस* की इस अर्द्धाली की छाया है—

जहँ बिलोक मृग सावक नयनी, जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी।

इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि वहाँ का श्वेत कमल यहाँ नील हो गया है। इसी प्रकार, *मानस* का जनु पाये महिपालमनि क्रियन सहित फल चारि इसमें जनु पाये फल चारि सहित साधन चहुँ हो गया है। राम-लक्ष्मण को देखने पर लोगों ने जो कुछ सोचा वा कहा था, तथा अन्य अनेक प्रकरणों के उद्धरण देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि *जानकी मङ्गल* में गोस्वामीजी ने *मानस* में प्रयुक्त अपने बहुत से भावों, वर्णनों और पदों को ज्यों का त्यों अपनाया है।

जानकी मङ्गल में मङ्गल के प्रत्यक्ष होकर नेग करने का उल्लेख है—

सियभ्राता के समय भौम तहँ आयउ, दुरीदुरा करि नेगु सु नात जनायउ।

परन्तु *मानस* में इस प्रकार उसके आगमन का कहीं वर्णन नहीं हुआ।

मानस में विवाह के पहले धनुष टूटते ही परशुराम के मिलन और वार्तालाप का विस्तार से वर्णन है; परन्तु *जानकी मङ्गल* में,

वाल्मीकीय रामायण के सदृश ही, विवाह के उपरान्त उनके मार्ग में मिलने का उल्लेख मात्र है—

मानस से भेद

पन्थ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिये,
डाँटहि आँख देखाइ कोप दारुन किये।
राम कीन्ह परितोष रोष दारुन रिस परिहरि,
चले सौंपि सारङ्ग सुफल लोचन करि।

यह काव्य उत्सव के अवसर पर गाने की लिए रचा गया है—उपवीत व्याह उछाह जे सिय राम मङ्गल गावहीं। इस कारण इसमें कथा का विस्तार-पूर्वक साङ्गोपाङ्ग वर्णन नहीं मिलता; बहुत स्थलों पर तो सङ्केत मात्र है। फिर भी इसमें कथा के हृदय-ग्राही प्रसङ्गों की उपेक्षा नहीं हुई। विवाह के निमित्त किये गये आयोजन के समय लोगों के जो विचार हो सकते हैं उनका वर्णन कवि ने जमकर किया है। धनुष यज्ञ के समय राम को देखने में मग्न लोगों का यह चित्र देखिये—

कवित्व

नृप रानी पुर लोग राम तन चितवहिं,
मञ्जु मनोरथ-कलस भरहिं अरु रितवहिं।
रितवहिं भरहिं धनु निरखि छिनु छिनु निरखि रामहिं सोचहीं।
नर नारि हरष विषाद बस हिय सकल सिवहि सकोचहीं।

जब राम धनुष के पास पहुँचे तब कवि ने सीता की मानसिक दशा का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है—

कहि न सकति कछु सकुचनि सिय हिय सोचइ,
गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ।
होति बिरह सर मगन देखि रघुनाथहिं,
फरकि बाम भुज नयन देहिं जनु हाथहिं।
धीरज धरति, सगुन बल रहत सो नाहिंन,
बर किसोर, धनु घोर, दइउ नहिं दाहिन।

विश्वामित्र के साथ जाते समय राम का बाल-स्वभाव भी दर्शनीय है—

गिरि तरु बेलि सरित सर बिपुल बिलोकहिं,
धावहिं बाल सुभाय, बिहँग मृग रोकहिं।
सकुचहिं मुनिहि सभीत बहुरि फिरि आवहिं,
तोरि फूल फल किसलय माल बनावहिं।

जानकी मङ्गल में भी अन्य ग्रन्थों की भाँति कवि का कुछ उक्ति-वैशिष्टय उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ, आशीर्वाद का यह कैसा अच्छा उदाहरण है—

ईस मनाइ असीसहिं जय जस पावहु,
न्हात खसै जनि बारु, गहरु जनि लावहु।

जब जनक ने राम को देखा तब वे देखते ही रह गये। उनकी इस दशा का चित्र देखिये—

देखि मनोहर मूरति मन अनुरागेउ,
बँधेउ सनेह बिदेह बिराग बिरागेउ।

फिर वे मन ही मन सोचने लगे—

पुन्य-पयोधि मातु पितु ये सिसु सुरतरु,
रूप-सुधा-सुख देत नयन अमरनि बरु।

इस काव्य में भी कवि के अन्य ग्रन्थों के समान ही अलङ्कारों की स्वाभाविक छटा दिखलायी पड़ती है। अनुप्रास तो उनके पीछे-पीछे चलता जान पड़ता है। काव्य आरम्भ करते ही उसका मनोहर रूप देखने में आता है—

गुरु गनपति गिरजापति गौरि गिरापति,
सारद सेस सुकवि स्रुति सन्त सरल मति।

इसके एक-दो और उदाहरण लीजिये—

तब सुबाहु सूदन जस सखिन सुनायेउ।

राम सीय वय समौ सुभाय सुहावन।

'उत्प्रेक्षा' के द्वारा ये भाव चित्र कैसे अच्छे ढङ्ग से प्रस्तुत हुए हैं—

(१) होति बिरह सर मगन देखि रघुनाथहिं,
फरकि वाम भुज नयन देत जनु हाथहिं।

(२) सीय सकुच बस पिय तन हेरइ,
सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ।

(३) गये राम गुरु पहिं, राउ रानी नारि नर आनँद भरे।
जनु तृषित करि करिनी निकर सीतल सुधा सागर परे।

६. रामाज्ञा प्रश्न

इसमें सात सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक। प्रत्येक सप्तक में सात दोहे। इस प्रकार ३४३ दोहों के अतिरिक्त इसके आरम्भ में दो दोहे और हैं। उनमें प्रश्न निकालने की रीति बतलायी गयी है। इसमें राम-कथा के विविध प्रकरणों की चर्चा है और प्रत्येक दोहे से फलादेश निकलता है। इसके सात सर्गों को रामायण के काण्ड समझना चाहिये। पहले सर्ग में दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ, राम-जन्म, अहल्या-उद्धार, सीता-स्वयंवर और विवाह; द्वितीय में राम के वनवास, वन-गमन, भरत-मिलन, चित्रकूट तथा पञ्चवटी-निवास, एवं तृतीय में दण्डक वन के कार्य—शूर्पणखा-भेंट, खरदूषण-वध, सीताहरण और कबन्ध-विनाश, शबरी, सुग्रीव आदि की भेंट तथा सीतान्वेषण के प्रयत्नों का वर्णन है। चौथे सर्ग में फिर राम-जन्म, अवध में तत्सम्बन्धी महोत्सव, राम के बाल-चरित, जनकपुर-गमन तथा धनुर्भङ्ग का विवरण है। पाँचवे सर्ग में कथा का सूत्र तीसरे सर्ग की कथा से पुनः जुड़ता है। उसमें हनुमान के कार्यों—समुद्रोल्लङ्घन, जानकी-मिलन, अशोक-वाटिका-विनाश और लङ्का-दहन—की चर्चा के पश्चात् समुद्र-सन्तरण, युद्ध और कुम्भकर्ण, रावण आदि के वध का

विषय

वर्णन है। षष्ठ सर्ग में राम का सीता से मिलन, अयोध्या-आग
और राज्याधिरोहण वर्णित है।

फिर कुछ ऐसी कथाओं का सङ्केत है जो मानस में नहीं मिलतीं
यथा, ब्राह्मण के मृत पुत्र का जीवन-दान तथा
कथा-भेद
उलूक का झगड़ा और यती-श्वान का संवाद।
में, सीता के अपवाद, उनके परित्याग, अश्वमेध-यज्ञ, लवकुश-ज
उनके द्वारा राज-सभा में राम-गुण-गान, वाल्मीकि का सीता
लवकुश के साथ आगमन तथा सीता के पृथिवी-प्रवेश का वर्णन
सप्तम सर्ग में कुछ दोहों में विविध प्रसङ्गों का भी वर्णन है और
में राम का उल्लेख है।

पहले सर्ग में दशरथ के मृगया खेलते समय श्रवणकुमार
पिता अन्ध मुनि के शाप की चर्चा भी है। उधर *मानस* में इसका
द्वितीय सोपान में हुआ है—तापस अन्ध साप सुधि आई, कौसल्यहि
कथा सुनाई। इसी सर्ग में शतानन्द के द्वारा दशरथ को अयं
से बुलवाने का वर्णन है—सतानन्द पठये जनक, दशरथ सहित सम
मानस में दूतों के द्वारा जनक ने दशरथ को निमन्त्रित किया है।
काव्य में भी विवाह के अनन्तर जनकपुर से लौटते समय मा
परशुराम के राम से मिलने और उन्हें अपना धनुष देने का वर्णन

रामाज्ञा प्रश्न में राम-कथा के विभिन्न प्रसङ्गों का उ
शुभ अथवा अशुभ फल जानने के लिए किया गया है। इससे
के क्रम में *मानस* से भेद है, कुछ कथाओं का अभाव है और
दोहों में उसमें वर्णित कथा का सङ्केत भी नहीं है।

इसके भी बहुत से दोहों में *रामचरितमानस* की उक्तिर
सादृश्य है। इसका केवल एक उदाहरण लीजिये-
उक्ति-साम्य

हरषि विबुध बरषहिं सुमन, मङ्गल गान निसान
जय जय रविकुल कमल रवि, मंगल मोद निसान

इसमें *मानस* के इस दोहे से कितना साम्य है—

जय धुनि बंदी वेद धुनि, मङ्गल गान निधान।
सुनि हरषहिं बरषहिं विबुध, सुरतरु सुमन सुजान।

इसकी पदावली गठी हुई और प्रौढ रचना के लक्षणों से युक्त है। और इसमें अलङ्कृत शैली देखी जाती है। जैसे, नीचे उद्धृत दोहे में अनुप्रास और परम्परित रूपक का सुन्दर सङ्कर है—

मन मलीन मानी महिप, कोक कोकनद वृन्द।
सुहृदय समाज चकोर चित, प्रमुदित परमानन्द।

इन काव्यों में कथा के नये प्रकरण—उनका औचित्य

ऊपर उल्लिखित काव्यों में रामचरित का ही वर्णन है। इससे कुछ लोगों को इनमें पिष्टपेषण जान पड़ता है। उनका मत है कि गोस्वामीजी को जो कुछ कहना था वह *मानस* में लिख चुके। फिर उनके पास काव्य रचने के लिए कोई नया विषय न रह गया। वे *मानस* में कही हुई कथा को ही दूसरे-दूसरे छन्दों में दोहराते और व्यर्थ का श्रम करते रहे। इसी तर्क को कुछ अच्छे ढङ्ग से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि तुलसीदास जैसे राम का नाम जपने में कभी नहीं थकते थे वैसे ही उनका गुणानुवाद करने में भी मानसिक थकान का नहीं, क्षण-क्षण नये आनन्द का अनुभव करते थे। ठीक भी है, और नशा सब चढ़ि चढ़ि उतरैं, राम-नशा दिन होत सवाई। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि गोस्वामीजी ने विविध वर्गों, रुचियों, अवसरों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने भिन्न-भिन्न काव्यों में विविध छन्दों और शैलियों में राम-कथा का गान किया है। इस प्रकार उन्होंने तत्कालीन सभी प्रचलित काव्य-पद्धतियों का अवलम्बन-कर, उनमें अपना असाधारण अधिकार तो प्रदर्शित किया ही, उनके द्वारा विविध रुचिवाले लोगों के मन को लुभाने के लिए राम-कथा को भिन्न-भिन्न रूप से प्रस्तुत किया। यह निष्कर्ष अनुचित नहीं प्रतीत होता।

परन्तु गोस्वामीजी ने *मानस* में खोलकर कहा है और अपनी रचनाओं में दिखला भी दिया है कि कवित्व प्रदर्शन मुझे इष्ट नहीं। इसी लिए उन्होंने केशवदास की *रामचन्द्रिका* के समान अपने किसी भी काव्य में पिङ्गल, अलङ्कार और काव्य के विविध उपादानों का पाण्डित्य नहीं प्रदर्शित किया। उन्होंने सदैव रस परिपाक का ध्यान रखा है। इसी से प्रत्येक काव्य में छन्द विशेष का मुख्यतया और कभी-कभी उसके सहायक रूप में कुछ अन्य छन्दों का प्रयोग करके रचना का प्रभाव स्थायी रूप से जमाने में असाधारण सफलता प्राप्त की है।

यह सब जानते हुए भी विविध रामायणों की रचना का प्रयोजन जानने की आवश्यकता बनी रहती है। अन्य काव्यों में *रामचरितमानस* से राम सम्बन्धी कथानक के साम्य और वैषम्य का कुछ सङ्केत यथा-स्थल किया जा चुका है और यह भी बतलाया गया है कि किस-किस काव्य में कौन-कौन से प्रसङ्ग विशेष रूप से दर्शनीय हैं। उन्हें अवलोकन करने से यह विदित होता है कि रामचरित होने के कारण कथानक में एकरूपता होते हुए भी सर्वत्र कुछ न कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। जान पड़ता है, गोस्वामीजी को जनकपुर और वन-पथ की नारियों के भावों की अभिव्यक्ति अत्यन्त ही प्रिय थी। इसी से उन्होंने *मानस*, *कवितावली* तथा *गीतावली* में एक-सी तन्मयता के साथ इनकी भाव-धारा में अवगाहन कराया है। परन्तु अन्य सभी प्रकरणों की सब काव्यों में एक-सी स्थिति नहीं है। *मानस* के प्रबन्ध में कुछ बातों का बहुत बढ़ाकर वर्णन करना उचित न था, और न ऐसा करने के लिए उसमें यथेष्ट स्थान ही था। इसी से उन विषयों के यथेच्छ वर्णन के लिए गोस्वामीजी ने अलग-अलग क्षेत्र चुने। उनके चुनाव के समय कवि ने अपनी सुरुचि हाथ से कहीं और कभी नहीं जाने दी। उन्होंने केवल मार्मिक विषयों को ही चुना है। *रामचरितमानस* में राम की बाल-लीलाओं का वर्णन बहुत ही कम है। यह कमी *गीतावली* में पूरी

हुई। यद्यपि *कवितावली* में भी राम के शैशव के कुछ मनोहारी चित्र हैं, तथापि *गीतावली* में उन चित्रों की अनेकरूपता मिलती है और उनकी क्रीडाओं और भावनाओं के व्योरेवार तथा सरस वर्णन हैं। इसी प्रकार, *मानस* में लङ्कादहन का बहुत विस्तार नहीं है। वह *कवितावली* में मिलता है। इस घटना से लङ्का के निवासियों के मन पर हनुमान और उनके व्याज से राम का जो आतङ्क *कवितावली* में प्रतिष्ठित हुआ है वह काव्य-क्षेत्र में अनुपम है। ऐसे ही, *मानस* में राज्याधिरोहण के अनन्तर राम के राज्य का यथेष्ट वर्णन तो है, किन्तु उसमें उनके और उनके परिवार के जीवन की झलक मात्र मिलती है। *गीतावली* में इस कमी की पूर्ति हुई है। इसी भाँति *कवितावली* के उत्तरकाण्ड में कवि के राम-सम्बन्धी सिद्धान्त और विचारों का स्पष्ट और विस्तृत परिचय मिलता है, जो *मानस* में प्रकारान्तर से कथाओं के बीच में ही विविध प्रकार से प्रकट हुआ है। *बरवै रामायण* में छोटे-छोटे प्रकरणों के बीच सीता के सौन्दर्य, मनोभाव आदि की जो झलक दिखलायी पड़ती है वह भी *मानस* में नहीं है।

इस ढङ्ग से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ये सब ग्रन्थ *रामचरितमानस* के पूरक हैं। उसमें जिन प्रसङ्गों का विस्तार सम्भव न था उनका पूरा और प्रभावशाली चित्रण इनमें हुआ है।

मानस में कहीं-कहीं गोस्वामीजी का कवि रूप कुछ पीछे हट गया है, और उनका भक्त वा उपदेष्टा का रूप अधिक प्रभावशाली हो गया है। परन्तु अन्य काव्यों में उनका यह भक्त रूप हटा तो नहीं, फिर भी उनके कवि रूप के सामने कुछ मन्द अवश्य पड़ गया है। इनमें उनके कवित्व का स्रोत फूट पड़ा है और उसका प्रवाह हृदय की लता को लहलही करता हुआ अबाध रूप से बहता रहता है। इन काव्यों में प्रबन्ध के निर्वाह की वैसी आवश्यकता भी न थी जैसी *रामचरितमानस* में। अतएव इनमें उपर्युक्त तथा अन्य मार्मिक और प्रभावशाली प्रसङ्गों का समावेश हुआ है।

धर्म, नीति और भक्ति सम्बन्धी कृतियाँ

अब तक जिन ग्रन्थों के सम्बन्ध में विचार किया गया है उनमें गोस्वामीजी के आदर्श और सिद्धान्त अवश्य दिखलायी पड़ते हैं, किन्तु मुख्य रूप से राम-कथा का ही विस्तृत अथवा सङ्कुचित रूप में वर्णन मिलता है, किन्तु उनकी कुछ अन्य कृतियों में उनके धर्म, नीति और भक्ति विषयक विचार ही पाये जाते हैं। ये हैं—वैराग्य सन्दीपिनी, दोहावली और विनय-पत्रिका।

१. वैराग्य सन्दीपिनी

इसमें दोहा, सोरठा और चौपाई छन्दों में राम की वन्दना और महिमा के अतिरिक्त सन्त स्वभाव, सन्त महिमा तथा शान्ति का वर्णन है। इसमें कुल बासठ छन्द हैं। इसके कुछ दोहे ज्यों के त्यों अथवा यत्र-तत्र थोड़े हेर-फेर के साथ दोहावली तथा रामाज्ञा प्रश्न में भी मिलते हैं। यहाँ राम के सम्बन्ध में तुलसीदासजी अपना विश्वास इस प्रकार प्रकट करते हैं—

तुलसी मिटै न मोह तम, किये कोटि गुन ग्राम।
हृदय कमल फूलै नहीं, बिनु रवि-कुल-रवि राम॥
एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
राम रूप स्वाती जलद, चातक तुलसीदास॥

सन्त का लक्षण यहाँ भी प्रायः वही है जो मानस में राम ने नारद तथा भरत से और काकभुशुण्डि ने गरुड से बतलाया है। गोस्वामीजी सन्तों के काम बतलाते हुए कहते हैं—

सील गहनि सब की सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिए यहि रहनि, सन्त जनन को काम॥

वे सन्त की विशेपता यह मानते हैं—

तन करि, मन करि, बचन करि, काहू दूपत नाहिं।

तभी वे मानते हैं कि

तुलसी ऐसे सन्तजन, राम रूप जग माहिं।

और

कञ्चन काँचहि सम गनै, कामिनि काठ पपान।
तुलसी ऐसे सन्त जन, पृथ्वी ब्रह्म समान।

सन्त की महिमा अपार है यह वे इस प्रकार सूचित करते हैं—

महि पत्री करि सिन्धु मसि, तरु लेखनी बनाइ।
तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाइ।

इसमें महिम्नस्तोत्र के इस श्लोक की छाया है—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखालेखनी पत्रमुर्वी,
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।

गोस्वामीजी आत्मशान्ति की प्राप्ति के लिए बतलाते हैं कि

अहंवाद, मैं-तैं नहीं, दुष्टसङ्ग नहिं कोइ।
दुखते दुख नहिं ऊपजै, सुख ते सुख नहिं होइ।
सोइ पंडित सोइ पारखी, सोई सन्त सुजान।
सोई सूर सचेत सो, सोई सुभट प्रमान।
सोइ ग्यानी सोइ गुनी जन, सोई दाता ध्यानि।
तुलसी जाके चित भई, राग द्वेप की हानि।

इस सैद्धान्तिक काव्य में भी कहीं-कहीं अलङ्कृत पदावली का प्रयोग हुआ है। यथा, नीचे के दोहों में परम्परित रूपक के द्वारा सिद्धान्त कहे गये हैं—

महा सान्ति जल परसि कै, सान्त भये जन जोइ।

अहं अगिनि ते नहिं दहै, कोटि करै जो कोइ।
तुलसी यह तनु खेत है, मन बच कर्म किसान।
पाप पुन्य द्वै बीज हैं, बवै सो लवै निदान॥
तुलसी यह तनु है तवा, तपत सदा त्रय ताप।
सान्ति होति जब सान्ति पद, पावै राम-प्रताप॥

२. दोहावली

यह मुक्तक रचना है। इसमें पाँच सौ तिहत्तर छन्द हैं। इनमें तेईस सोरठे और शेष दोहे हैं। इन दोहों और सोरठों में बहुत से तो मानस, वैराग्य-सन्दीपिनी और रामाज्ञा प्रश्न में भी मिलते हैं। इसमें गोस्वामीजी के राम-भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त और विश्वास का वर्णन है। कुछ दोहों में भक्तों की रीति, राम-राज्य के रूप, राम-भक्ति के प्रभाव, एवं कवि के आत्म-परिचय के साथ ही, श्रीकृष्ण की भक्तवत्सलता का भी परिचय मिलता है। कुछ दोहों से काशी तथा देश की तत्कालीन दशा की भी सूचना मिलती है।

विषय

इस प्रकार यह ग्रन्थ गोस्वामीजी के दूसरे काव्यों में आये हुए विचारों के अतिरिक्त उनके फुटकर दोहों-सोरठों का सङ्ग्रह है। यह सङ्कलन किसी क्रम से नहीं किया गया। किसी भी विषय के दोहे-सोरठे एक ही स्थान में तथा एक साथ नहीं मिलते। इसमें कुछ दोहों से कवि के अन्यत्र अभिव्यक्त सिद्धान्तों और विचारों की पुष्टि होती है। इसलिए वे उनके सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने में काम आ सकते हैं। *हनुमान बाहुक* में जिस 'रुद्रबीसी' की चर्चा है उसकी सूचना इसमें भी है—

सङ्कलन में क्रम नहीं

अपनी बीसी आपु ही, पुरिहि लगाये हाथ।
केहि विधि बिनती बिस्व की, करौं बिस्व के नाथ।

इसमें *बाहुक* के सदृश ही गोस्वामीजी की बाहु-पीडा का वर्णन मिलता है और इसमें भी आलङ्कारिक ढङ्ग से उसका उल्लेख है। कैसे

गठे हुए परम्परित रूपक हैं—

तुलसी तनु सर, सुख जलज, भुज रुज गज बरजोर।
दलत दयानिधि देखिये, कपि केसरी किसोर।
भुजतरु कोटर रोग अहि, बरबस कियो प्रवेस।
बिहँगराज वाहन तुरत काढ़िय मिटइ कलेस।
बाहु बिटप सुख बिहँग थलु, लगी कुपीर कुआगि।
राम कृपा जल सींचिये, बेगि दीन हित लागि।

दोहावली में गोस्वामीजी ने चातक और मीन के प्रेम के सम्बन्ध में कुछ अनूठे दोहे लिखकर, उनके द्वारा अपने राम-प्रेम की अनन्यता की व्यञ्जना की है। इन दोहों में प्रेम का वह रूप अङ्कित है जिसमें प्रेम करनेवाला प्रेम करना ही अपना धर्म समझता है, उसका बदला नहीं चाहता और न यह ही सोचता है कि मेरे प्रेम का प्रियतम पर क्या प्रभाव पड़ेगा। ऐसा उच्च एवं निष्काम प्रेम ही तुलसी का आदर्श था। चातक-प्रेम कैसा दिव्य है—यह इन दोहों में बड़े ही आकर्षक ढङ्ग से वर्णित है। उसके कुछ चित्र देखिये। उसकी अनन्यता कैसी है—

चातक-प्रेम

उपल बरपि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर?

उसका सन्तोष कैसा अनुपम है—

तुलसी चातक माँगनो, एक सबै घन दानि।
देत जो भू भाजन भरत, लेत जो घूँटक पानि।

नहीं, नहीं, चातक एक बूँद भी नहीं लेता—

चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पियै न पानि।
प्रेम तृपा बाढ़नि भली, घटे घटैगी आनि।

इसी लिए तो

नहिं जाचत, नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ।

ऐसे मानी माँगनेहि, को बारिद बिन देइ ?

चातक अपने अनन्य-व्रत का निर्वाह अन्त समय तक कैसे करता है—यह भी गोस्वामीजी ने दिखलाया है। उसके लिए मोक्षप्रद गङ्गाजल का वह महत्त्व नहीं जो स्वातिजल का है। तभी

बध्यो बधिक परयो पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहु लगी न खोंच।

चातक दूसरा जल स्वतः तो छूता ही नहीं, कहीं भूल से उसके अण्डे का छिलका उस पर पड़ जाता है तो उसे भी निकालकर फेंक देता है। फिर उसे निकालता है पङ्ख से, चोंच से नहीं। कारण, यदि धोखे से उस जल में चोंच लग जाय तो ? अनन्य व्रत न भङ्ग हो जाय—

अण्ड फोरि कियो चेटुवा, तुप परयो, नीर निहारि।
गहि चङ्गुल चातक चतुर, डारयो बाहिर बारि।

वह अपने इस प्रेम को रिक्थ के रूप में अपनी सन्तति को दे जाता है—

तुलसी चातक देत सिख, सुतहि बार ही बार।
तात न तर्पन कीजिये, बिना बारिधर बारि।

इसी से तुलसीदासजी उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरेहि।
सुरसरिहू को बारि, मरत न माँगेउ अरध जल।

वे तो इसके भी आगे बढ़कर यहाँ तक कह देते हैं कि

तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जान जग, जाचक बारह मास।

३. विनय-पत्रिका

इस ग्रन्थ में दो सौ उन्नासी पद हैं। रामनगर (बनारस) के राज-पुस्तकालय में संवत् १६६६ की लिखी *राम-गीतावली* नामक

हस्तलिखित पुस्तक है। *विनयावली* नाम से उपलब्ध दूसरी हस्तलिखित पुस्तक भी इसी *रामगीतावली* की प्रति लिपि समझी जाती है। उसमें एक सौ छिहत्तर पद हैं। इनमें पाँच पद *गीतावली* में मिलते हैं और शेष *विनयपत्रिका* में।

परिचय

कहा जाता है कि गोस्वामीजी के पुनीत आचरण और प्रभावशाली उपदेश के प्रभाव से काशी में राम के प्रति लोगों की भक्ति बड़े वेग से बढ़ रही थी। यह देखकर उन पर कलियुग का कोप हुआ। उससे बचने के लिए हनुमानजी की प्रेरणा से उन्होंने राजाधिराज रामचन्द्र की सेवा में यह 'विनय' की 'पत्रिका' भेजी थी।

रचना का प्रयोजन

इसमें राम के प्रति राजोचित सम्मान और शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए गोस्वामीजी ने आत्मनिवेदन किया है। उसमें आवेदन-पत्र का पूरा रूपक निभाया गया है और इसमें सारी बातें क्रम-पूर्वक कही गयी हैं। इससे कुछ लोगों का यह मानना उचित नहीं प्रतीत होता कि यह ग्रन्थ कवि के मन में समय-समय पर उठे हुए भावों का सङ्ग्रह मात्र है। इसमें विविध प्रकार के पदों का सङ्कलन अवश्य है; किन्तु वे हैं क्रमबद्ध तथा योजना विशेष के अनुसार। वे उस पत्रिका के अङ्ग हैं, जिसे राजराजेश्वर चक्रवर्त्ती महाराज रामभद्र के समक्ष पहुँचना है। ऐसी पत्रिका नियम पूर्वक लिखी और भेजी जानी चाहिये। गोस्वामीजी सामान्य राजाओं के कृपाकाङ्क्षी तो कभी नहीं रहे, किन्तु वे उनकी सभा के व्यवहार से अपरिचित भी नहीं थे। इसी से उन्होंने अपनी पत्रिका की स्वीकृति के लिए राम की सभा को अपने कार्य की सिद्धि में सहायक बनाने का पूरा ध्यान रखा है। वे मर्यादा के पालन में बहुत सावधान रहते थे। अतएव उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम के समक्ष रखी जाने वाली पत्रिका का श्रीगणेश 'श्रीगणेशाय नमः' से किया। सबसे पहले

विषय और उसका प्रतिपादन

गणपति की वन्दना की—गाइये गनपति जगबन्दन, संकरसुवन भवानीनन्दन। तब राम के वंश के आदि पुरुष सूर्य का स्तवन किया। फिर कई पदों में राम-भक्त-शिरोमणि शम्भु से राम-भक्ति की याचना की। तत्पश्चात् अर्द्धनारीश्वर शिव, काशी के कोटपाल भैरव और जगज्जननी पार्वती की स्तुति की। इस प्रकार काशी के अधिष्ठातृ देव विश्वनाथ, उनकी शक्ति दुर्गा और उनके प्रमुख गण भैरव को अपने अनुकूल बनाकर उन्होंने गङ्गा, यमुना, काशी और चित्रकूट की कृपा की आकाङ्क्षा की। तदनन्तर राम के मुख्य पार्षद हनुमान, तथा उनके अंश रूप लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की प्रार्थना की। अब राज-सभा को साधकर, सबसे राम-भक्ति की ही याञ्चा करके उन्होंने महारानी सीता से उपयुक्त अवसर देखकर महाराज से अपनी चर्चा चलाने की विनती की—

> कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
> मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ।

गोस्वामीजी ने उनसे भगवान के सामने अपना नाम तुलसीदास बड़ी चतुराई से उपस्थित करने को कहा है। वे कहते हैं कि हे माँ, आप कहियेगा कि आपकी दासी (तुलसी) का दास कहलाने वाला व्यक्ति आपका ही नाम लेकर जी रहा है—

> नाम लै भरै उदरु एक प्रभु-दासी-दास कहाइ।

यह अस्पष्ट बात सुनकर राम को स्वभावतया जानने की उत्सुकता होगी। इससे वे—

> बूझिहैं 'सो है कौन ?' कहिबी नाम दसा जनाइ।
> सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ।

इस प्रकार सभा को अपने अनुकूल करके गोस्वामीजी ने राम चरित का सङ्क्षेप में वर्णन किया, फिर राम-वन्दना, कृष्णस्तुति, दशावतार-विनय और बिन्दुमाधव की प्रार्थना की। वन्दना-प्रकरण के

अनन्तर भक्तवर तुलसी ने अपने स्वामी से अपना दैन्य-निवेदन आरम्भ किया है। अपने प्रभु के महत्त्व, औदार्य, शील और जीव के असामर्थ्य को दिखलाते हुए उनसे उसके उद्धार की याचना की है। उन्होंने बीच-बीच में अपने नैतिक उत्थान की अभिलाषा भी व्यक्त की है। इस तरह दो सौ तीन पदों में जी खोलकर अपनी करुणामयी पुकार सुनाने के पश्चात् गोस्वामीजी ने फिर हनुमान, शत्रुघ्न, लक्ष्मण और भरत से अपनी पत्रिका को महाराज के सामने उपस्थित करने की प्रार्थना की। यह सुनते ही वे एक-दूसरे का मुँह देखने लगे, कोई आगे न बढ़ सका। तब

> मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है—
> कलिकालहुँ नाथ नाम सों प्रतीत प्रीति एक किङ्कर की निबही है।

इस प्रकार पहले से सधी हुई राज-सभा ने एक स्वर से ाणजी की बात का समर्थन किया—

> सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।

इसी समय उपयुक्त अवसर समझ कर तुलसी चट सभा में स्थित हो गये—

> कृपा गरीब निवाज की, देखत गरीब को, साहब बाँह गही है।

और

> बिहँसि राम कह्यो—सत्य है, सुधि मैं हू लही है।

इसपर

> मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ हाथ सही है।

अतः रघुनाथ ने सही करके *विनय-पत्रिका* स्वीकार कर और तुलसी की इच्छा पूरी की। यह है 'पत्रिका' का साङ्गोपाङ्ग रूपक। अब कैसे माना जाय कि इसमें कवि के मन में उठे हुए विचारों का सङ्कलन ही हुआ है और व्यवस्थित ढङ्ग से पदों का निर्माण नहीं हुआ? सच तो यह है कि *विनय-पत्रिका* में

काव्योचित व्यवस्था और योजना का सम्यक् रीति से निर्वाह हुआ है।

विमर्श

गोस्वामीजी ने *विनय-पत्रिका* में विविध देवताओं की स्तुति करके भी अपनी राम-भक्ति सम्बन्धी अनन्यता अक्षुण्ण रखी है। उन्होंने सबसे राम की भक्ति प्रदान करने का अनुरोध किया है। यथा,

> माँगत तुलसीदास कर जोरे, बसहिं रामसिय मानस मोरे ;
>
> देहि कामारि श्रीरामपदपङ्कजे भक्तिमनवरत गतभेदमाया।

भक्ति के साधन

विनय पत्रिका में भक्ति की प्राप्ति के साधनों का विशद रूप से वर्णन है। इसके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीबैजनाथ जी ने लिखा है कि विनय की सात भूमिकाएँ होती हैं। वे सब इसमें मिलती हैं। वे हैं—दीनता, मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा। *दीनता* की दशा में भक्त अपने को नितान्त तुच्छ समझकर अपनी स्थिति का सारा दायित्व अपने ऊपर लेता है। जैसे,

> कैसे देउँ नाथहि खोरि।
>
> काम लोलुप भ्रमत मन हरि, भगति परिहरि तोरि।
>
> बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।
>
> देउँ सिख, सिखयो न मानत, मूढ़ता अस मोरि।
>
> किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
>
> संग बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि।
>
> करौं जो कछु धरौं सचिपचि सुकृत-सिला बटोरि।
>
> पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि।
>
> लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा-डोरि।
>
> बात कहौं बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि।
>
> एतेहू पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि।
>
> निलजता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि। १५८।

मान-मर्षता में भक्त निरभिमान होकर भगवान् का शरणागत होता है। यथा,

काहे तें हरि, मोहि बिसारो।
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो।
पतित-पुनीत दीन हित असरन-सरन कहत स्रुति चारो।
हौं नहिं अधम सभीत दीन ? किधौं बेदन मृगा पुकारयो ?

× × ×

नाहिंन नरक परत मो कहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु, नामहु पाप न जारो। ६४।

भय-दर्शना में मन को भय दिखलाकर भक्त उसे इष्टदेव के सम्मुख करता है। जैसे,

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु, भाई रे।
नाहि तौ भव बेगारि महँ परिहै छूटत अति कठिनाई रे।

× × ×

मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसीदास भवत्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे। १८६।

भर्त्सना में मन को फटकार कर और उसे भला-बुरा कहकर भगवान् की ओर प्रवृत्त करने चेष्टा की जाती है। जैसे,

ऐसी मूढता या मन की।
परिहरि रामभक्ति सुरसरिता आस करत ओसकन की।

× × ×

कहँ लौं कहौं कुचालि कृपानिधि, जानत हौं गति मन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की। ६०।

आश्वासन में प्रभु के ऊपर निर्भर रहकर तथा उसी के बल पर मन को ढारस बँधाकर भक्त अपने उद्धार के मार्ग में आगे बढ़ता

है। यथा,

ऐसो को उदार जग माहीं ?
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।
× × ×
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो।१६२।

मनोराज्य में विचरण करते समय भक्त भगवान् से स्वकल्पित अभिलाषाओं की पूर्त्ति की आशा किया करता है। जैसे,

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें सन्त सुभाव गहौंगो।
जथा लाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देहजनित चिन्ता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि-भक्ति लहौंगो।१७२।

विचारणा में संसार की असारता समझ कर मन को उससे हटाने और भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख होने की चेतावनी दी जाती है। जैसे,

केसव कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये।
× × ×
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै।१११।

विनय-पत्रिका के विनय सम्बन्धी सभी पदों को उक्त भूमिकाओं में कहीं न कहीं रखा जा सकता है। इस काव्य से गोस्वामीजी के

के आध्यात्मिक सिद्धान्त स्पष्ट रूप से ज्ञात होते हैं। उनका उल्लेख *मानस* के प्रसङ्ग में हो चुका है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनका सिद्धान्त था—

आध्यात्मिक सिद्धान्त

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो।

× × ×

मेरे तो माय बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो।
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहि तें तुलसिहि समुझि परो।२२६।

राम की भक्ति ही जीव के लिए परम साध्य है। इसके लिए उसे राम के शील के प्रति आकृष्ट होकर उनके नाम-जप और सत्सङ्ग आदि के द्वारा उन पर पूर्ण रूप से निर्भर होने का अभ्यास करना पड़ता है। यह सब राम की कृपा से ही होता है—

तुलसीदास यह होहि तबहि जब द्रवै ईश जेहि हतो सीस दस।

गोस्वामीजी की भक्ति लोकबाह्य नहीं है। वह लोक-सम्मत और लोकानुसारिणी है। उनके आदर्श के अनुसार भक्त का आचरण पुनीत होता है। ऊपर उद्धृत कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो पद में अभिलषित जीवन का रूप लोक के लिए अनुकरणीय है। हाँ, यह ठीक है कि भक्त भगवत्कृपा के द्वारा ही आचरण की पवित्रता की प्राप्ति सम्भव समझता है, अपने पुरुषार्थ से नहीं।

विनय-पत्रिका में उच्चकोटि का कवित्व भी मिलता है। हृदय के सच्चे उद्‌गार होने के कारण इसके पदों में आत्म-विस्मृति के साथ ही अनोखा लालित्य और हृदयहारी आकर्षण भी है। उनमें कहीं संस्कृत की समास-बहुलता और अलङ्कारों की अटूट शृङ्खला की छटा है, तो कहीं सरस कोमल कान्त पदावली की मिठास। अनेक दण्डकों में शब्द-क्लिष्टता का अनुभव करते

कवित्व

ए भी सामान्य पाठक लीन रहना चाहता है। यथा,

जयति अञ्जनीगर्भ अम्भोधि सम्भूत विधु,
विबुध कुल कैरवानन्दकारी।
केसरी चारु लोचन चकोरक सुखद,
लोकपन सोक सन्तापहारी।

× × ×

जयति जय वज्र तनु, दसन नख मुख विकट,
चण्ड भुजदण्ड तरु—सैल-पानी।
समर-तैलिक-जन्त्र तिल-तमीचर निकर
पेरि डारे सुभट घालि घानी।२५।

अकृत्रिम और स्वाभाविक भाषा का प्रवाह भावाभिव्यक्ति में कितना सहायक होता है यह *विनय-पत्रिका* के अनेक स्थलों में मन को लुभा लेता है। जैसे,

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नैन जलु सो नर खेहर खाउ।
सिसुपन तें पितु मातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम विधु बदन रिसौंहैं सुपनेहुँ लख्यो न काउ।

× × ×

कपि सेवा-बस भये कनौड़े, कह्यो पवनसुत आउ।
देवे को न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ।१००।

विनय-पत्रिका में हृदयोद्गार अभिव्यक्त हुए हैं, फिर भी अलङ्कृत वाक्य-विन्यास का अभाव नहीं है। रूपकों की छटा तो अगणित स्थलों में देखते ही बनती है। विविध रागों और रागिनियों के अनुसार रचे गये इसके पदों में साहित्य सौष्ठव के साथ ही सङ्गीत का पूरा आनन्द मिलता है। इसी से ये सङ्गीताचार्यों के भी कण्ठहार हैं।

अन्य रचनाएँ

अब गोस्वामीजी के रचे हुए दो ग्रन्थ और रह जाते हैं, जिन्हें राम-काव्य के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। वे गोस्वामीजी के उदार धार्मिक विचारों के पोषक हैं। *मानस* में शिव को राम कथा के आदि वक्ता और राम के परम भक्त के रूप में अङ्कित किया गया है। साथ ही राम को शिव का उपासक दिखलाया गया है। इससे उन दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त राम के अनन्य उपासक होते हुए भी गोस्वामीजी अन्य अवतारों को राम से अभिन्न मानने के कारण उनके भी भक्त ही थे। इन्हीं दोनों विचारों के पोषक होने के कारण उन्होंने *पार्वती मङ्गल* और *श्रीकृष्ण-गीतावली* की भी रचना करके अपने आदर्श को व्यवहार में प्रत्यक्ष कर दिखाया है।

१. पार्वती मङ्गल

पार्वती मङ्गल में शिव-पार्वती के विवाह की कथा है। इसमें एक सौ अड़तालिस 'अरुण' और सोलह 'हरिगीतिका' छन्द हैं। यह प्रबन्ध काव्य पूर्वी अवधी में लिखा गया है। *मानस* के आरम्भ में शिव-पार्वती के विवाह की जो कथा है वही कुछ परिवर्तन के साथ इसमें भी वर्णित है। इसमें सती के मोह और उनके शरीर-त्याग की चर्चा नहीं है। हिमवान और मैना के घर जगज्जननी पार्वती के जन्म से ही कथा प्रारम्भ होती है। *मानस* में वर्णित कथानक के अनुसार तपस्विनी पार्वती के प्रेम की परीक्षा लेने सप्तर्षि गये थे; किन्तु *पार्वती मङ्गल* में स्वयं शिवजी ब्रह्मचारी का वेश बनाकर उनके पास पहुँचे थे। वयोवृद्ध सप्तर्षियों से तो पार्वती

कथा

ाधे बातें की थीं, किन्तु वे ब्रह्मचारी से तो ऐसा नहीं कर सकती थीं। इसी से उन्होंने अपना अभिप्राय अपनी सखी के द्वारा ब्रह्मचारी से व्यक्त किया और अपनी शालीनता का परिचय दिया। ब्रह्मचारी के अपनी-सी ही कहते के कारण पार्वती ने सखी से यहाँ तक कह दिया कि इस बकवादी को विदा कर दो। पार्वती के अविचल प्रेम को देखकर ब्रह्मचारी । वास्तविक शिव रूप में प्रकट हुए। पार्वती धन्य हुईं। शिव ने अङ्गीकार किया। किन्तु पार्वती ने सखी के द्वारा अपनी पिता की नता सूचित की। इसके अनन्तर वहाँ से विदा होकर शिव ने र्यों को भेज कर हिमाचल से और अरुन्धती के द्वारा मैना से ी के साथ विवाह का प्रसङ्ग चलाने की व्यवस्था की। *मानस* में ी के प्रेम की परीक्षा लेने के पश्चात् सप्तर्षि हिमालय के पास गये मैना से उन लोगों के द्वारा उपस्थित किये प्रस्ताव की चर्चा स्वयं लय ने की थी। *पार्वती मङ्गल* में हिमाचल के यहाँ बारात पहुँचने शिव के विकट वेश त्याग कर सतकोटि मनोज मनोहर रूप में प्रकट का उल्लेख है। ऐसा *मानस* में नहीं लिखा। शेष कथा में *मानस* से भेद नहीं है। इसमें विवाह के अनन्तर शिव के उमा-सहित श जाने का उल्लेख करके ही कथा समाप्त हुई है।

ं 'मानस' से और साम्य

इस काव्य में भी *मानस* की अनेक उक्तियों से सादृश्य है। , इसका कवित रीति नहिं जानउँ, कवि न कहावउँ *मानस* के प्रसिद्ध कवि न होउँ, नहिं चतुर कहावौं तथा कवित विवेक एक नहिं मोरे का अनुगामी है। वैसे तो बहुत से उद्धरणों ह साम्य सूचित किया जा सकता है, किन्तु यहाँ दो-चार की गी से ही काम चलाया जायगा। जैसे,

क्ति-साम्य

जनम दरिद्र महामनि पावइ—*पार्वतीमङ्गल*

जनम रङ्क जनु पारस पावा—*मानस*

बिबुध बोलि हरि कहेउ निकट पुर आयउ,
आपन आपन साज सबहिं बिलगायउ।
बर अनुहरति बरात बनी हरि हँसि कहा,
सुनि हिय हँसत महेस, केलि कौतुक महा।

—*पार्वतीमङ्गल*

बिष्णु कहा अस बिहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज।
बर अनुहारि बरात न भाई, हँसी करैहहु परपुर जाई।
मन ही मन महेस मुसुकाहीं, हरि के बिङ्ग बचन नहिं जाहीं।

—*मानस*

धारि जनमु जग जाय, सखी कहि सोचहिं—*पार्वतीमङ्गल*
कत बिधि सृजी नारि जग माहीं—*मानस*।

पार्वती मङ्गल कल्यान काज उछाह व्याह में 'सनेह सहित' गाने के लिए रचा गया है। इससे इसमें अवसर के अनुरूप मङ्गल-विधान की सारी सामग्री विद्यमान है। इसमें भावों की व्यञ्जना बड़े कोमल ढङ्ग से हुई है और उक्तियों का सौन्दर्य भी यथेष्ट है। पार्वती को शिव के प्रेम से विचलित करने में असफल ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में कवि की उक्ति है—

काव्य-सौष्ठव

बटु करि कोटि कुतर्क जथारुचि बोलइ,
अचलसुता मन अचल बयारि कि डोलइ?
साँच सनेह साँचि रुचि जो हठ फेरइ,
सावन सरित सिन्धु रुख सूप कि घेरइ?
मनि बिनु फनि जलहीन मीन तनु त्यागइ,
सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ?

पार्वती ने व्यर्थ बातें करने में समय नष्ट न करके ब्रह्मचारी को तुरन्त विदा कर देना चाहा। इससे उन्होंने सखी के द्वारा उनसे

कहलाया—

कहुँ तिय होहिं सयान सुनहिं सिख राउरि,
बौरेहि के अनुराग भइउँ बड़ि बाउरि।

इस काव्य में कवि ने दृश्य-वर्णन का भी यथेष्ट ध्यान रखा है। हिमवान के नगर का चित्रण थोड़े में, किन्तु अच्छा हुआ है। इसी प्रकार शिव की बारात का दृश्य भी दर्शनीय है। वर्णन सर्वत्र गठा हुआ है। अलङ्कृत पदावली का प्रयोग अकृत्रिम रूप से हुआ है। वर्णन में अलङ्कार आप से आते और उसकी शोभा बढ़ाते हैं। दो-एक उदाहरण लीजिये। पार्वती की विदा के समय की स्थिति पर कैसी बढ़िया 'उत्प्रेक्षा' है—

भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुँचावहिं,
हुँकरि हुँकरि सु लवाइ धेनु जनु धावहिं।

इसी प्रकार मङ्गल-हार का सुन्दर रूपक देखते ही बनता है—

प्रेम-पाट पट-डोरि गौरि-हर-गुन-गनि,
मङ्गल-हार रचेउ कवि-मति-मृगलोचनि।
मृग नयनि बिधुबदनी रचेउ मनि मञ्जु मङ्गल-हार सो।
उर धरहु जुवती जन बिलोकि तिलोक सोभा सार सो।

२. श्रीकृष्ण-गीतावली

यह ब्रजभाषा में रचित इकसठ पदों का आख्यान काव्य है। इसमें श्रीकृष्ण की बाललीलाओं के अतिरिक्त गोपियों के उपालम्भ और उसके फलस्वरूप यशोदा के कोप तथा ऊखल-बन्धन, इन्द्र के कोप, गोवर्द्धन-धारण, गोपी-प्रेम और विरह, गोपी-उद्धव संवाद और भ्रमरगीत तथा अन्त में द्रौपदी चीर-हरण सम्बन्धी वर्णन हैं। बाल-लीला तथा गोपी-उद्धव के वार्तालाप का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार-पूर्वक चित्रण है। यद्यपि इन प्रसङ्गों पर

परिचय

श्रीकृष्ण के विषय में व्रजभाषा में कविता करने वाले तुलसी के सम-सामयिक और परवर्ती कवियों ने भी प्रचुर परिमाण में रचना की है तथापि गोस्वामीजी ने यहाँ भी अपना स्वतन्त्र स्थान बना लिया है। उन्होंने इस काव्य में प्रेमवत्य मनुज-रूपधारी प्रभु के 'लीला-रस' का आस्वादन कराया है। उन लीलाओं को देखकर व्रजवासी मग्न हो जाते थे और देवता उन लोगों से ईर्ष्या करते थे कि हमें यह सुख अलभ्य है—

तुलसी निरखि हरपत बरसत फूल भूरि भागी व्रजवासी विबुध सिद्ध सिहात।

इतना ही नहीं, उन्हें देखने के लिए आकाश में देवता उपस्थित होते और प्रभु पर फूल बरसाकर अपनी मुग्धता प्रकट करते थे—

अम्बर अमर हरपत बरपत फूल।

'गोप-गोसुत वल्लभ' 'अपहरन तुलसीदास त्रास' हैं। इस प्रकार, उनकी लीलाओं के गान का वही उद्देश्य जान पड़ता है जो राम की लीलाओं के गान का है। तात्पर्य यह कि भगवान् के सगुण रूप के चरित का वर्णन करने के लिए ही इसकी रचना हुई है।

कवित्व

इस काव्य में कवि ने श्रीकृष्ण के जीवन के कुछ मार्मिक प्रकरणों को ही लिया है—यह इसमें वर्णित आख्यानों से स्पष्ट है। श्रीकृष्ण और यशोदा का यह वार्तालाप कितना स्वाभाविक है—

'छोटी-छोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू दे री मैया'
'ले कन्हैया' 'सो कब ?' 'अबहिं तात।'
'सिगरियै हौंही खैहौं, बलदाऊ को न दैहौं',
'सो क्यों' 'भट्ट तेरो कहा' कहि इत उत जात।

और इच्छानुसार चुपरी मीसी रोटी पा जाने पर वे

कूदि-कूदि किलकि-किलकि ठाढ़े ठाढ़े खात।

श्रीकृष्ण के उत्पातों से ऊब कर गोपी उलाहना देती हुई यशोदा

से कहती है—

तोहिं स्याम की सपथ जसोदा आइ देखु गृह मेरे।
जैसी हाल करी यहि ढोटा छोटे निपट अनेरे।
गोरस हानि सहौं न कहौं कछु यहि ब्रजबास बसेरे।
दिन प्रति भाजन कौन बेसाहै? घर निधि काहू केरे?
किये निहारो हँसत, खिझे तें डाटत नयन तरेरे।
अब ही तें ये सिखे कहाँ धौं चरित ललित सुत तेरे।
बैठो सकुचि साधु भयो चाहत मातु बदन तन हेरे।
तुलसिदास प्रभु कहौं ते बातैं जे कहि भजे सबेरे।

गोपी खीझती है कि दूध-दही तो अपने घर होता है; उसकी हानि सही जा सकती है। परन्तु यह कन्हैया बरतन जो फोड़ डालता है। क्या घर में कहीं का भाण्डार रखा है, जिससे नित्य बरतन मोल लिये जायँ? इसकी एक बात और बुरी लगती है। यह जो कुछ करता है उसे चुपचाप देखा करो तो हँसता है, और इसपर बिगड़ो तो आँखें तरेर कर धमकाता है। चोरी और सीनाजोरी! और अब देखो, यशोदा तुम्हारे सामने आकर सकुचाया हुआ बैठा है! बड़ा साधु हो गया है मानो। कन्हैया, कह दूँ वे बातें जो तुम आज सवेरे कहकर भाग आये थे? इस उपालम्भ में कितनी स्वाभाविकता है।

इसी प्रकार इसमें गोपियों की खीझ के कितने ही प्रत्यक्ष चित्र हैं और श्रीकृष्ण की ऐसी उक्तियाँ हैं जिनसे उनके चापल्य पर मुग्ध हो चुप रह जाना पड़ता है। कभी वे कहते हैं—

अबहिं उरहनो दै गई, बहुरो फिरि आई।
सुनु मैया, तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की, सकुच बेंचि सी खाई।

कभी यशोदा ऐसी अनूठी युक्तियों के द्वारा श्रीकृष्ण की यह टेव छुड़ाना चाहती हैं—

छाँड़ो मेरे ललित ललन लरिकाई।

ऐहैं सुन देखवार कालि तेरे, बबै ब्याह की बात चलाई।
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि, हँसिहैं नई दुलहिया सुहाई।

यह प्रस्ताव सुनते ही—

मातु कह्यो करि कहत बोलि दै, भई बड़ि बार, कालि तौ न आई।

इसके आगे का दृश्य देखिये—

तब सोइबो तात यों हाँ कहि, नयन मीचि रहे पौढ़ि कन्हाई।
उठि कह्यो भोर भयो, झँगुली दै, मुदित महरि लखि आतुरताई।
बिहँसी ग्वालि जानि तुलसी प्रभु सकुचि लगे जननी उर धाई।

मघवा का मान-मर्दन करने के पश्चात् श्रीकृष्ण की गोप-कुमारों के साथ उमङ्ग भरी यह क्रीडा भी गोस्वामीजी ने देखी थी—

टेरि कान्ह गोवर्धन चढ़ि गैया।

मथि मथि पियो बारि चारिक में भूख न जाति अघाति न घैया।
सैल सिखर चढ़ि चितै चकित चित अति हित बचन कह्यो बलभैया।
बाँधि लकुट पट फेरि बोलाई सुनि कल बेनु धेनु धुकि धैया।
बलदाऊ देखियत दूरि तें आवति छाक पठाई मेरी मैया।
किलकि सखा सब नचत मोर ज्यों, कूदत कपि कुरङ्ग की नैंया।
खेलत खात परसपर डहकत, छीनत कहत करत रोगदैया।

गोपियों और उद्धव के वार्तालाप में बहुत सी सुन्दर उक्तियाँ हैं। यथा,

जल बूड़त अवलम्ब फेन को फिरि फिरि कहा कहत है?

इसी प्रसङ्ग में गोस्वामीजी ने भी योग की असारता और प्रेम की महत्ता का उसी प्रकार प्रदर्शन किया है जिस प्रकार सूर आदि व्रज के कवियों ने। सामान्य जनों के लिए निर्गुण उपासना की अव्यावहारिकता दिखलाने के लिए जैसे सूर आदि ने विरह-वेदना की अभिव्यक्ति के इस मार्मिक अवसर को सैद्धान्तिक मतभेद के खण्डन-मण्डन का अखाड़ा बना दिया है वैसे ही तुलसीदासजी ने भी, जान

पड़ता है, भक्ति और ज्ञान की सापेक्ष्य श्रेष्ठता के प्रतिपादन करने का काम यहाँ किया है। मानस में भी तो उन्होंने ज्ञान और भक्ति का निरूपण करके लोक में सुलभता और व्यावहारिकता के विचार से भक्ति की ही प्रतिष्ठा स्थापित की है। इस प्रकार, विषय की दृष्टि से इस गोपी-उद्धव संवाद में तत्कालीन अन्य कवियों की रचनाओं से सादृश्य है, फिर भी उक्तियों में तुलसी की कला तो है ही। गोपी का यह तर्क सुनिये—

ग्यान कृपान समान लगत उर, बिहरत छिन छिन होत निनारे।
अवधि जरा जोरति हठि पुनि पुनि, याते तनु रहत गहत दुख भारे।

जैसे जरा राक्षसी ने कटे हुए शरीर को जोड़कर जरासन्ध को जिला दिया था वैसे ही श्रीकृष्ण के आगमन की अवधि ही हमारे उस शरीर को जिला रही है जो तुम्हारे ज्ञान के कृपाण से टुकड़े-टुकड़े हो रहा है, हे उद्धव !

एक और आलङ्कारिक वर्णन देखिये। गोपी कहती है—

मो को अब नयन भये रिपु माई।
ग्यान परसु दै मधुप पठायो बिरह बेलि कैसेहु कटिनाई।
सो थाक्यो बरह्यों एकहि तक देखत इनकी सहज सिंचाई।

खेत में पानी ले जाने वाली जो नाली (बरहा) लगातार (एकहि तक) पानी सींचती है वह भी इन नेत्रों की निरन्तर सिंचाई के सामने लज्जित हो जाती है। विरह की लता को यह ज्ञान का परशु काटना चाहता है, पर ये नेत्र उसे लगातार अपने जल से सींच सींचकर लहलही रखते हैं। भला वह कभी सूख सकती है !

इसी प्रकार की चातुर्यपूर्ण मनोहर उक्तियों से पूरित यह काव्य श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में रचे गये श्रेष्ठ काव्यों की श्रेणी में रखा जाता है। इसमें वर्णन और भाव-सौन्दर्य देखकर कहना पड़ता है कि उपास्य-भेद की सङ्कुचित परिधि के भीतर न रहकर गोस्वामीजी ने

अपने विशाल हृदय में सीताराम को प्रतिष्ठित करके सचमुच सीय राम मय सब जग जाना था और उन्होंने यह चरितार्थ कर दिखाया था कि जो निज प्रभुमय देखहिं जगत वे का सन करहिं विरोध ? वे किसी से विरोध ही नहीं करते, प्रत्युत सब को अपने प्रभु के रङ्ग में ही रँगा देखते हैं और तभी उनको जो रङ्ग अपनी कृतियों में देते हैं वह सदा चोखा उतरता है।

गोस्वामीजी का महत्त्व

गोस्वामी तुलसीदास के विषय में अब तक जो लिखा गया है उससे यह तो स्पष्ट ही है कि वे श्रीरामचन्द्र के अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपनी भक्ति-साधना के क्रम में ही अपने काव्यों की रचना की थी। इसी से उनकी रचनाओं में भक्ति का तत्त्व ही प्रधान है और कवित्व गौण। यद्यपि काव्य-कौशल प्रदर्शित करना उनका लक्ष्य न था, फिर भी वह तो उनकी कृतियों में सर्वत्र विद्यमान है, कारण यह कि वे वाणी के सिद्ध कवि थे। उनकी भक्ति में भी विशिष्टता है। अपने इष्टदेव के प्रति पूर्ण निष्ठा होते हुए भी वह अन्य साम्प्रदायिक उपासकों के समान सङ्कुचित न थी। उसमें किसी से लेशमात्र भी द्वेष न था। वह परम उदार थी। उसमें ज्ञान और कर्म से भी विरोध न था। प्रयागराज में मकर-स्नान के लिए आगत मुनियों और ऋषियों का कार्यक्रम बतलाते हुए गोस्वामीजी ने *मानस* में लिखा है कि वे

मज्जहिं प्रात समेत उछाहा, कहहिं परसपर हरि गुन गाहा।
ब्रह्मनिरूपन धर्मविधि, बरनहिं तत्व विभाग।
कहहिं भगति भगवन्त कै, संजुत ग्यान विराग।

इसी में मानसकार के विचारानुसार धर्म का रूप निहित समझ पड़ता है। उन्होंने भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का समन्वय करके धर्म के लोक-व्यवहार के लिए उपयोगी पक्ष की प्रतिष्ठा की। उनकी भक्ति एकान्त साधना के द्वारा जीव के उद्धार का उपाय मात्र नहीं, वह विषम परिस्थितियों के बीच होकर जीवन की सफल यात्रा के लिए आवश्यक आचरण की प्राप्ति में सहायक और संबल भी है। उन्होंने वसिष्ठजी के द्वारा श्रीराम के प्रति चित्रकूट में कहलाया था कि करब साधुमत लोकमत, नृप नय, निगम निचोर। उनकी कृतियों में वर्णाश्रम धर्म का

उत्कृष्ट एवं व्यावहारिक रूप दिखलायी पड़ता है, भक्ति-मार्ग की अनन्य साधना प्रत्यक्ष होती है, राजधर्म का लोक-कल्याणकारी दर्शन होता है और साथ ही वेद-शास्त्र निरूपित सिद्धान्तों का सुबोध रीति से प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार, उनमें साधु-धर्म, लोक-धर्म, राजनीति और वेदमत का अपूर्व समन्वय हुआ है। उन्होंने जन-सुलभ सगुणोपासना को निर्गुणोपासना से अभिन्न माना है। वे कहते हैं कि सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा। इस प्रकार दोनों उपासना-पद्धतियों में दिखलायी पड़नेवाला भेद-भाव दूर करते हुए उन्होंने भक्ति का मङ्गलमय विधान किया। बहुदेववाद की असारता प्रदर्शित करके एकदेवोपासना की प्रतिष्ठा की। शिव और राम की अन्योन्याश्रित भक्ति का प्रतिपादन कर शैव और वैष्णव मतों के अज्ञानजन्य भेद की जड़ पर कुठाराघात किया। व्यक्तिगत साधना का मार्ग दिखलाने के साथ ही समष्टि के लिए उपयुक्त धर्म का पथ उद्घाटित किया। उन्होंने ऐसे धार्मिक विश्वास पल्लवित किये जो श्रुतिसम्मत थे। लोक और वेद दोनों का समन्वय करके उन्होंने धर्म को व्यवहारोपयोगी बनाया। अतएव उन्होंने तत्कालीन मतमतान्तरों और सम्प्रदायों के अनिष्ट प्रभाव से समाज को विशृङ्खल होने से बचाया। उन्होंने अपने *मानस* में वेदों, शास्त्रों, पुराणों आदि के सिद्धान्तों का उल्लेख करके उसे भारतीय धर्म और नीति का सर्वमान्य ग्रन्थ बना दिया। तभी आज उसी के द्वारा लोग अपनी पुरातन संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ हैं।

भारतीय विचारों, सिद्धान्तों और आदर्शों की रक्षा करने के साथ ही गोस्वामीजी ने उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि भी की। उन्होंने कविता का आदर्श ही उपस्थित कर दिया। विविध प्रकार की प्रचलित काव्य-शैलियों का समान अधिकार से प्रयोग करके उन्होंने कविता का शृङ्गार किया। काव्योचित अनेक छन्दों में रचना करके उनका प्रयोग-

सौष्ठव प्रदर्शित किया। अपने समय की मान्य काव्य-भाषाओं अर्थात् व्रज और अवधी का एक-सी गति से साथ व्यवहार करके उन पर अपना असाधारण प्रभुत्व दिखलाया। अवधी के सहज माधुर्य की रक्षा करते हुए उस पर अपने पाण्डित्य से संस्कृत का पानी चढ़ा कर उसे निखार दिया। इस प्रकार उसे प्रान्तीय परिधि से उठाकर देश-व्याप्त किया; सीमित क्षेत्र और समुदाय की बोली से साहित्य की सर्वसम्मत भाषा बनाया। उन्होंने संस्कृत की पदावली के बीच बोलचाल की शब्दावलि को प्रतिष्ठित किया और उसे साहित्य के व्यवहार में चालू किया। इस प्रकार, अपनी रचना को सामान्य और विशिष्ट दोनों वर्गों के जन-समुदाय के लिए उपयोगी बनाया। उन्होंने प्रचलित विदेशी शब्दों को अपनाकर तथा उनका संस्कार कर भाषा की पाचन या ग्राहिका शक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया। जैसे विचारों के क्षेत्र में, वैसे ही भाषा के क्षेत्र में भी गोस्वामीजी ने अपनी विशाल समन्वय-शक्ति का परिचय दिया।

वे काव्य-कला में भी निष्णात थे। अलङ्कृत काव्य का कैसा रूप होना चाहिये यह कोई उनसे सीख ले। उन्होंने काव्य के बहिरङ्ग के साथ ही उसके अन्तरङ्ग का भी मनोहर रूप अङ्कित किया। उन्हें मानव जीवन का व्यापक ज्ञान और अनुभव था। इसी से उनके सर्वाङ्गपूर्ण काव्य जीवन के इतने विविध प्रकार के चित्रों से युक्त हैं, और इसी से उनमें उसके मार्मिक स्थलों का इतना स्वाभाविक और प्रभावशाली वर्णन है। वे मानव जीवन के साथ ही प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में प्रवीण थे। उनके उरेहे प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र देखते ही बनते हैं।

धर्म के प्रतिष्ठापक और काव्य के स्रष्टा तुलसीदास ने जो कुछ किया अपने मन के सुख और विश्वास के लिए, किन्तु उनकी वाणी सुनकर लोक के मन को शान्ति मिली। इसी से वह लोक-वाणी

होकर लोक-चमत्कार बन गयी, लोक-व्याप्त हो गयी। आत्म-कल्याण के साधक उनके सहारे आत्मोन्नति के मार्ग में पड़े। धर्म के तत्त्व के जिज्ञासुओं को उनमें सनातन वैदिक धर्म का साक्षात्कार हुआ। समाज की व्यवस्था बाँधने वालों को उनमें व्यष्टि और समष्टि सब की दृष्टि से अनुकरणीय आदर्श मिले। काव्य के रसिकों को उनके रस-सिक्त वर्णनों में ब्रह्मानन्द-सहोदर की प्राप्ति हुई। इस प्रकार, उसमें लोक के सभी वर्गों को अपनी-अपनी आवश्यकता की पूर्ति और अपनी-अपनी रुचि की तृप्ति करने वाली सामग्री मिली। जो उसमें जितना डूबा उतना ही मग्न हुआ, उससे उतना ही श्रेष्ठ तत्त्व निकाल सुखी हुआ। अस्तु।

उनकी वाणी से लोक-कल्याण का सच्चा विधान हुआ। उन्होंने कविता का आदर्श भी यही बतलाया है। वे कहते हैं—

कीरति भनिति भूति भल सोई,
सुरसरि सम सबकर हित होई।

अर्थात् जैसे गङ्गाजी से सबका कल्याण होता है, वैसे ही कीर्ति, कविता और सम्पदा से सब का हित होना चाहिये। जिस कविता से लोक-हित न हो वह किसी काम की नहीं। उनकी दी हुई इस कसौटी पर उनके काव्य को कसने पर वह सर्वथा खरा निकलता है। उससे लोक-मङ्गल हुआ है, हो रहा है, और होगा।

उनके समय के समाज ने आत्म-गौरव खो दिया था और आत्म-रूप भुला दिया था। उसे गोस्वामीजी की रचनाओं में उनकी उपलब्धि हुई। उनकी कृतियों ने उन दिनों फैले हुए कुशासन-चक्र को काटकर उस क्षणिक माया-अन्धकार को दूर किया और लोगों को सच्चे ज्ञान का आलोक प्रदान किया। इतना ही नहीं। उन्होंने भग्न-हृदय जन-समाज को आत्म-बल दिया और निराशापूर्ण जीवन के लिए आशा से उत्फुल्ल जीवन का उदात्त रूप रखा, जिससे वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों